



श्री जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार कण्ठ ( सुरत ) प्रन्थाङ्क—५३  
॥ अर्द्धम् ॥

श्री खरतगच्छेश्वर यंगम युगप्रधान भद्राक शासन  
प्रभावक दादा श्री जिनदत्तसूरीश्वर  
विरचित

## चर्चार्यादि ग्रंथ संग्रह

भाषान्तर मह

अनुवादकः—

आचार्य श्रीजिनहरिमारग सूरि

जैनाचार्य श्रीमज्जिनकृपाचन्द्रसूरिजी के शिष्य उपाध्याय मुनि  
सुखसागरजो के उपदेश से जीयागञ्ज निवासी सुश्रावक चावू  
गोविन्दचन्द्रजी भूरा के द्रव्य साधाय द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशकः—

श्री जिनदत्त सूरि ज्ञान भण्डार  
सुरत ।

बोर सेवा मन्दिर  
दिल्ली



क्रम संख्या १२४०  
काल नं. २३२ (A) ६७८  
वर्ष

श्री जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड ( सुरत ) प्रन्थाङ्क—५३  
॥ अहंम् ॥

श्री खरतरगच्छेश्वर यंगम युगप्रधान भद्राक शासन  
प्रभावक दादा श्री जिनदत्तसूरीश्वर  
विरचित वा

## चर्चार्यादि ग्रंथ संग्रह

भाषान्तर सह

अनुवादकः—

आचार्य श्रीजिनहरिसागर सूरि

जैनाचार्य श्रीमज्जिनकृपाचन्द्रसूरिजी के शिष्य उपाध्याय मुनि  
सुखसागरजो के उपदेश से जीयागञ्ज निवासी सुश्रावक बाबू  
गोविन्दचन्द्रजी भूरा के द्रव्य साहाय द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशकः—

श्री जिनदत्त समि-ज्ञान भण्डार

सुरत १०२

सं० २००४ ]

भेट

[ प्र० ५००

पता—

श्री जिनदत्त सूरि ज्ञान भण्डार  
ठिठ० गोपीपुरा, सीतलवाडी, उपासरा ।  
मु० सूरत ( गुजरात )

पता—

बाबू गोविन्दचन्द्रजी भूरा  
पो० जियागंज ( मुर्शिदाबाद )  
एवं  
६६, नलिनी सेठ रोड, कलकत्ता ।

मुद्रक :—

एन० एम० सुराना  
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स,  
कलकत्ता ।

## प्रकाशक की ओर से—

आज मैं अतीव हर्ष और आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ कि हमारी ग्रन्थ-माला के साथ जो प्रातः स्मरण आचार्य महाराज श्री जिनदत्त सूरिजी का नाम सम्बद्ध है उन्हों के द्वारा रच गये ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का महत्वपूर्ण सुअवसर प्राप्त हुआ है।

इन सम्पूर्ण ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद आचार्य वर्ण्य श्री जिनहरिसागर सूरिजी के सश्रम पूर्वक किया है। इन ग्रन्थोंको पढ़ने से मालूम हुए बिना न रहेगा कि आचार्य महाराजजी ने अपने बड़े आलोचक और समय की बुरी प्रथाओं पर पूर्ण संकोच प्रहार करने में पक्ष थे। उन दिनों चैत्यवासी समाज का आवध्य था, उनका समस्त आचरण जैन संस्कृति के कलङ्क खलूप था। अतः युगकी जलती हुई समस्या आचार्य श्रीको सरन करनी ही पड़ी और इसीमें रहकर अमृतमयी वाणीसे बफाई भी।

अनुवादक महोदय को हम हार्दिक धन्यवाद देनेके साथ पाठकों से कर बद्ध प्रार्थना करते हैं कि वे इस अनुवादक ग्रन्थ समूह को हंसक्षीर न्याय से पढ़ो।

प्रकाशक:—

## श्रीजिनदत्तसूरि--प्राचीन--पुस्तकोद्धार--फण्डद्वारा मुद्रितपुस्तके

गणधरसार्धशतकम्-

तरगतप्रकरणम्

जयतिहुअणवृत्तिः

दिवालीकल्पः

प्रश्नोत्तरसार्धशतकम्

विशेषशतकः

संदेहदोलात्मलीवृत्तिः

पञ्चलिंगीप्रकरणम्

चैत्यवंदनकुलकवृत्तिः

अनुयोगद्वारसूत्रमूल

कल्पद्रुमकलिका भाषांतर

संवेगरंगशाला भा०-१

श्रीपालचरितप्राकृत-भाषांतर

द्वादशपर्वव्याख्यान भाषा

जीवविचारादि प्रकरण भाषा

कल्याणमंदिरस्तोत्रटीका

भक्तामरस्तोत्रटीका

द्वादशकुलकविवरणं

षट्स्थानप्रकरणम्

धन्यशोलिभद्रचरित्रम्

धन्यचरित्रम्

सामाचारीशतकम्

कल्पसूत्र—कल्पलताव्याख्या

प्राकृतव्याकरण

विधिमार्गप्रपा

सप्तस्मरणटीका

गाथासहस्री

अतिमुक्तकमुनिचरित्रम्

गणधरसार्धशतकलघुवृत्तिः

पुण्यसारकथानकम्

युगप्रधानचतुष्पदिका

कल्पसूत्र-कल्पद्रुम कलिका टीका

चर्चार्यादि प्रस्त्र संग्रह-

भाषांतर

पञ्च प्रतिकमणि

( विधि सहित )

राइ देवसि प्रतिं

( विधि सहित )

जैन दर्शन पोथि

रत्नाकर पञ्चीसी

स्तवन संग्रह ( मू० )

गजल संग्रह ( भा० १ )

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार,

गोपीपुरा, सीतलवाड़ी उपासरा, मु० सुरत ।





दृश्य मठायक : -  
जीयागंज निवासी धर्मप्रेमी



श्री मातृ वावृ गाविन्दचन्द्रजी मुर  
कलकत्ता ।



श्री जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड ( सुरत ) ग्रन्थांक—५३

ॐ अहं नमः

सुविहित शिरोमणि जड्म युगप्रधान भट्टारक श्री

श्री श्री १००८ श्रीमज्जिनदत्तसूरीश्वर विरचिता  
सर्वतन्त्र स्वतन्त्र-सर्वज्ञकल्प-सुविहितविधिविधान प्रधान प्रचारक—महाकवि  
श्री श्री १००८ श्री मज्जिनवल्लवसूरीश्वर स्तुति रूपा—

## चर्चरी

अनुवादक—जेनाचार्य श्रीमज्जिनहरिसागरसूरिजी

नमिव जिणेसरधम्मह तिहुयणसामियह,  
पायकमलु ससिनिभ्मलु सिवगयुगामियह । ६  
करिमि जहड्यगुणथुइ सिरिजिणवल्लहह,  
जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुष्ठहह ॥ १ ॥

अर्थ—त्रिभुवनके स्वामी शिवगतिमें गये हुए जिनेश्वर श्रीधर्मनाथ स्वामीके चन्द्रके जैसे निर्मल चरण-कमलको नमस्कार करके, उस युगमें प्रधान ज्ञानवाले आचार्य देव गुणि समुदायमें दुर्लभ ऐसे श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराजके यथास्थित—सत्यगुणोंकी स्तुति को मैं करता हूँ ।

सर्वविद्या प्रधान तर्कविद्या सम्बन्धिनी उनकी स्तुति विरोधालंकारसे बताते हैं—

जो अपमाणु पमाणइ छद्दरिसण तणइ,  
जाणइ जिंव नियनामु न तिण जिंवा कुवि घणइ ।  
परपरिवाइगइंद्रियारणपंचमुहु  
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्तइ इक्तमुह ? ॥ २ ॥

अर्थ—जो अप्रमाण अर्थात् सर्वथा प्रमाण रहित होते हुए भी छह दर्शनों के प्रत्यक्षादि बहुत प्रमाणोंको अपने नामके जैसे जानते हैं। यहां विरोध रूप यह दीखता है कि जो जो स्वयं अप्रमाण है वह दूसरोंके प्रमाणको किस तरह जान सकता है ? विरोध परिहार इस प्रकार है, कि—जो मान रहित होते हुए, अथवा अपरिमित गुणोंको धारण करनेसे अप्रमाण होते हुए षट् दर्शनोंके बहुत प्रमाणोंको निज नामके समान ऐसे जानते हैं, जैसे दूसरा कोई विद्वान् नहीं जानता। जो परवादी रूप मदोन्मत्त हाथियोंको विदारण करनेमें पंचमुख-सिंहके समान है उन गुरुदेवके गुणवर्णनमें एक मुखवाला कौन समर्थ हो सकता ? अपितु कोई नहीं।

जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ,  
सद्दु असद्दु वियारइ सुवियक्खणतिलउ ।  
सुच्छंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ,  
गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विजयमउ ॥ ३ ॥

अर्थ—जो सामुद्रिकोके शुभ लक्षणोंके स्थान भूत गुरु, व्याकरण शास्त्रको भली भाँति जानते हैं। अच्छे विद्वानोंमें तिलक जैसे जो आचार्य महाराज वैयाकरण होनेसे—शब्दोंको और अपशब्दों को भी अच्छी तरहसे शोचते हैं। जो अच्छे यति-विराम स्थानवाले नगण रगण सहित विशिष्ट जगण यगण आदि गणोंवाले छन्दोंके शोभन अभिप्रायसे होते हुए व्याख्यानमें गुरु लघु वर्गोंको यथा स्थान प्रतिष्ठित करते हैं, अर्थात् श्रीजिनवल्लभ-सूरीश्वरजी महाराज न्याय व्याकरण और छन्दः शास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् थे। [ इस श्लोक के तीसरे चौथे चरणोंका अर्थ ऐसे भी हो सकता है कि ]—सुयति मान्य जनहितकारी और और विजयी आचार्य महाराज स्वतन्त्रतापूर्वक छन्दोमय व्याख्यान फरमाते हैं, एवं गुणोंमें बड़े-छोटे मुनियोंको पाकर उनको यथा स्थान आचार्य उपाध्यायादि पदोंपर प्रतिष्ठित करते हैं। अर्थात् आप मधुर व्याख्यान करते हैं एवं सामर्थ्य संपन्न सूरि सम्राट् थे।

कव्वु अउव्वु जु वियरइ नवरसभरसहित  
 लद्धपसिद्धिहिं सुकइहिं सायरु जो महित ।  
 सुकइ माहु ति पसंसहि जे तसु सुहगुरुहु प्राघः  
 साहु न मुणहि अयाणुय मइजियसुरगुरुहु ॥ ४ ॥

अर्थ—जो नवरस पूर्ण अपूर्व काव्यों की रचना करते हैं, और जो ख्याति प्राप्त सुकवियों से सादर पूजित है। बुद्धि वैभवसे वृहष्पतिको मात देनेवाले उन शुभ गुरु महाराज को भलि प्रकार न जाननेवाले अनजान आदमी ही सुकवि रूप से माघ कवि की प्रशंसा करते हैं।

कालियामु कइ आसि जु लोइहिं वन्नियइ,  
 ताव जाव जिणवल्लहु कइ ना अन्नियइ ।  
 अपु चित्तु परियाणहि तं पि विशुद्ध न य,  
 ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि मुद्धनय ॥ ५ ॥

अर्थ—कालीदास नामक कवि था उसकी काव्योंमें तबतक ही लोग तारीफ करते हैं जबतक उनने श्री जिनवल्लभसूरि महाराज रूप महाकविके स्वरूप को नहीं सुना है। जो थोड़े से चित्र काव्य को जानते हैं, और वह भी अशुद्ध, भोले भाले लोगों द्वारा माने हुए वैसे कुकवि आइचर्य है कि कविराज रूप से गाये जाते हैं। यह बात गानेवालोंकी मूर्खता का यहि नाम मात्र है !!

सुकइविसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ  
 सु विजिणवल्लहु पुरउ न पावइ कित्ति कइ ।  
 अवरि अणेयविणेयहिं सुकइ पसंसियहिं,  
 तक्कव्यामयलुद्धिहिं निच्चु नमंसियहिं ॥ ६ ॥

अर्थ—सुकवियों द्वारा विशेषित वचन वाले गौडवधादि रूप प्रबन्धों के रचयिता कवि श्री वाक्पतिराज एवं दूसरे सुकवि जो अनेक शिष्यों द्वारा प्रशंसित होते हैं, और उन काव्यामृत लुब्धपुरुषों द्वारा नमस्कृत होते हैं, वे भी श्रीमज्जिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराज रूप महाकविके सामने कुछ भी कीर्ति को नहीं पाते। इस श्लोकसे पूज्येश्वर की प्रौढ कवि-त्व शक्ति की स्तुति की गई है।

जिण कय नाणा चित्तइं चित्तु हरंति लहु  
 तसु दंसणु विणु पुन्निहिं कउ लब्भइ दुलहु ।

सारइं बहु थुइ थुत्तइ चित्तइं जेण कय,  
तसु पय कमलु जि पणमहि ते जण कयसुकय ॥७॥

अर्थ—जिनके बनाये हुए विचित्र चक्र-खड़ आदि आकार बाले षट्क्रिका सप्त चक्रिका गजबन्ध आदि चित्र काव्य भट्टपट चित्त को हरते हैं, उनका दुर्लभ दर्शन पुण्य के बिना कैसे प्राप्त हो सकता है। अपितु नहीं हो सकता, जिनके बनाये हुए गुप्त क्रिया-सम-संस्कृत-प्राकृत अर्ध संस्कृत गोमूत्रिकादि चित्रमयसार भूत बहुत से स्तुति स्तोत्र प्रस्तुत हैं, उन कविसम्राट् श्रीमज्जिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराज के पद कमलों में जो प्रणाम करते हैं वे पुरुष कृतपुण्य माने जाते हैं।

जो सिद्धंतु वियाणइ जिणवयणुब्भवित,  
तसु नामु वि सुणि तूसइ होइ जु इहु भवित ।  
पारतंतु जिणि पयडित विहिविसइहिं कलित,  
सहि ? जसु जसु पसरंतु न केणइ पडिखलिड ॥ ८ ॥

अर्थ—श्री जिनेश्वर देवके वदन-कमल द्वारा प्रवचन रूपसे पैदा होनेवाले सिद्धान्त को जो विशिष्टतया जानते हैं। जिनने जिनाज्ञा प्रवर्त्तन रूप विधि साधु श्रावकादि विषयसे संकलित श्री मद्गुरुपारतंत्र्यको प्रकट किया है। हे—सखे ? जिनका फैलता हुआ यश कहीं किसीसे भी स्खलित नहीं हुआ। ऐसे उन महा गीतार्थ गुरुदेवके दर्शनसे तो क्या नाममात्रसे भी सुनकर जो प्रसन्नचित्त हो जाता है, वह आत्मा भव्य—मोक्षका अधिकारी है।

जो किर सुतु वियाणइ कहइ जु कोरवइ,  
करइ जिणोहिं जु भासित सिवपहु दक्खवइ ।  
खवइ पावु पुब्बज्जित पर अप्पह तणउं,  
तासु अदंसणि सगुणहिं उद्गूरज्जइ घणउं ॥ ९ ॥

अर्थ—गुरुगमसे सूत्रोंको विशिष्ट रूपसे जानकर जो उपदेश सबभव्यात्माओंको फरमाते हैं, और सम्यग् धर्मानुष्ठान उनसे करवाते हैं। स्वयं भी जिनाज्ञानुसारी आचारका पालन करते हैं। श्री जिनेश्वर देवोंने जिस ढंगसे मोक्ष मार्ग बताया वैसे ही वे दिखाते हैं। इस प्रकार भव्यात्माओंके पूर्वार्जित पापको खपा देते हैं। ऐसे महाज्ञानी श्री गुरुमहाराजके दर्शन वियोगमें गुणवान्-भव्यात्मा अत्यन्त खिल्ल चित्तवाले हो जाते हैं।

परिहरि लोयपवाहु पयद्वित विहिविसउ<sup>१</sup>  
 पारतंति सहु जेण निहोडि कुमगगसउ ।  
 दंसिउ जेण दुसंघ-सुसंघह अंतरउ,  
 वद्धमाणजिणतित्थह कियउ निरंतरउ ॥१०॥

अर्थ—अविधि प्रवृत्त चैत्य-साधु भक्ति आदि लोक प्रवाहका त्याग करके सुगुरु पारतन्त्र<sup>२</sup> के साथ विधि और विषय<sup>३</sup> प्रवर्तित करके जिनने सैकड़ों कुमारोंका निराकरण करके दुसंघ और सुसंघके अन्तरको जिनने दिखाया । इस प्रकार जिनने श्री बर्द्धमान स्वामीके पुनोत शासनको अविच्छिन्न बनाया ।

जे उसुत्तु पयंपहि दूरि ति परिहरइ,  
 जोउ सुनाण-सुदंसण किरिय वि आयरइ ।  
 गडुरिगामपवाहपवित्ति वि संवरिय,  
 जिण गीयत्थायरियइ सव्वइ संभरिय ॥११॥

अर्थ—जो लोग उत्सूत्र बोलते हैं उनको जो दूरसे ही त्याग देते हैं । एवं जो सम्यग ज्ञान सम्यग दर्शन और जिनाज्ञा विधिरूप सुक्रियाका आचरण करते हैं । गडुरिया प्रवाहमें पड़े हुए लोगोंकी प्रवृत्तिका संवरण करके जिनने पूर्वमें होनेवाले समस्त गीतार्थोंको याद किया है ।

१ सुगुरु पारतंत्र—संविग्न गीतार्थ गुरुकी आग्याका पालन ( त्यागिगुरुओंकी सेवा ) ( चै० कु० )

२ विषय—तीर्थकरादिकोंकि आसातना विर्जके भक्ति करना ।

चेद्दहरि अणुचियइं जि गीयइं वाइयइ  
 तह पिच्छण-थुइ-थुत्तइं खिडुइ कोउयइ ।  
 विरहंकिण किर तित्थु ति सव्वि निवारियइ,  
 तेहिं कइहिं आसायण तेण न कारियइ ॥१२॥

अर्थ—देव मन्दिरमें जिन अनुचित गाने बजाने प्रोक्षणक ( नाटक ) स्तुति स्तोत्र कीडा और कौतुकादिकोंको, विरहांक श्रीहरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजने निश्चय करके निषिद्ध कर दिये थे, क्यों कि उनके करनेसे वहाँ—श्री वीतराग मन्दिरमें अशातना लगती है । शिथिलाचारियों द्वारा फिरसे प्रवर्तित उन्हीं गाने बजाने प्रमोदजनक आदिकोंको उन श्रीजिनवल्लभ सूरीश्वरजी महाराज द्वारा भी नहीं करने दिये जाते हैं ।

श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज द्वारा निषिद्ध कार्य क्यों किये जाते थे ?

लोय--पवाह--पयद्विहि कोउहलपिइहि,  
 कीरंतइ फुडोसइ संसयविरहियहि ।  
 ताइं वि समइनिसिद्धइ समइक्यत्थियहि,  
 धम्मत्थीहि वि कीरहिं बहुजणपत्थियहि ॥१३॥

अर्थ—लोक प्रवाहमें प्रवृत्तिवाले कुतूहलप्रिय पूर्व महागीतार्थोंकी आङ्गामें शंका न रखनेवाले, कुमार्गानुगामिनी कुमति द्वारा कदर्थना पाये हुए, और धर्मको चाहनेवाले लोग भी सिद्धान्त आगमोंमें निषेध किये हुए स्फुट दोषवाले मनुष्यस्वभाव कुतूहलप्रिय होनेसे बहुतसे आदमी जिनको करना चाहते हैं ऐसे अनुचित कर्तव्योंको कर लेते हैं।

जुगपवरागमु मन्निउ सिरिहिभदपहु,  
 पडिहयकुमयसमुहु पयासियमुत्तिपहु ।  
 जुग पहाणसिद्धंतिण सिरिजिणवल्लहिण  
 पयडिउ पयडपयाविण विहिपहु दुल्लहिण ॥१४॥

अर्थ—श्रीजिन चैत्यमें शिथिलाचारियों द्वारा प्रवत्तिंत उन अनुचित गाने बजाने प्रेक्षक आदिका निषेध करते हुए युगप्रधान सिद्धान्त वाले प्रकट प्रतापवाले, पापियोंके लिये दुर्लभ ऐसे श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजीने—युग प्रधान बोधवाले कुमत समूहका प्रतिकार करनेवाले मुक्तिपथका प्रकाश करनेवाले भगवान् श्रीहरिभद्र सूरीश्वरजीको—उपलक्षणसे समस्त प्रवचन प्रभावक आचार्य पुंगवोंको माना। एवं ऐसा करते हुए जिनने विधि मार्ग को प्रकाशित किया।

प्रसंगसे विधि प्रकाशको बताते हैं।

विहि चैईइरु कारिउ कहिउ तमाययणु,  
 तमिह अणिस्साचैईउ क्य निवुइनयणु ।  
 विहि पुण तत्थ निवेइय मिवपावणपउण,  
 जं निसुणेविणु रंजिय जिणपवयणनिउण ॥१५॥

अर्थ—जिनने आगम देशना द्वारा प्रतिबोधित श्रावकोंसे विधि प्रधान जिन रंदिर बनवाया। ऐसे चैत्य ही। ज्ञानादि लाभको बढ़ानेवाले-आयतन होते हैं, ऐसा जिनने करवाया। वही साधु आदिकी मालिकीके विनाका—अनिश्चाकृत चैत्य इस संसारमें अपुनराग-मनभाव रूप निवृति-मुक्तिको करनेवाला और लानेवाला होता है। तथोक्त जिन चैत्य

मैं मोक्ष पहुंचानेमें वत्पर जिनाज्ञा पालन रूप विधि निश्चित रूपसे भव्यात्माओंको जिनने सुनाया, जिसको सुनकर श्री जिनप्रवचनसे चतुर लोक प्रसन्न हो गये ।

विधिको ही बताते हैं ।

जहि उस्तु जणक्कमु कु वि किर लोयणिहिं,  
कीरंतउ नवि दीसइ सुविहिपलोयणिहिं  
निसि न प्हाणु न पइठु न साहु साहुणिहि,  
निसि जुवइहिं न पवेसु न नटु विलासिणिहिं ॥१६॥

अर्थ—जहाँ-विधि चैत्योंमें उत्सूत्र भाषण करनेवालोंका नन्दि-व्याख्यान आदि कोई भी आचारक्रम कराता हुआ सुविधि देखनेवाले—दीर्घदृष्टि लोगोंको नहीं दिखाइ देता है। रात्रीमें स्नात्र भी नहीं होता है, न प्रतिष्ठा ही होती है। जहाँ रात्रीमें साधु-साध्वी या-स्त्रियोंका प्रवेश भी नहीं होता, न विलासिनी वेश्याओंका नृत्य ही ।

जाइ नाइ नं कयग्गहु मन्नइ जिणवयणु,  
कुणइ न निंदियक्कमु न पीडइ धम्मियणु ।  
विहिजिणहरि अहिगारिइ सो किर सलहियइ,  
सुद्धइ धम्मु सुनिम्मलि जसु निवसइ हियइ ॥१७॥

अर्थ—जहाँ जाती-ज्ञातीका स्नात्र-पूजा आदिमें इसी जातीवाले या इसी ज्ञानीवाले करा सकते हैं—ऐसा कदाग्रह नहीं होता। इस प्रकारके पुनीत विधि चैत्यके लिये वही अधिकारी प्रशंसनीय होते हैं जो जिन वचनोंको मानते हैं। जो निन्दित आचरण नहीं करते। जो धार्मिक जनोंको पीड़ा नहीं पहुंचाते। जिनके हृदयमें शुद्ध सुनिर्मल धर्म निवास करता है।

जित्थुति-चउर सुसावय दिठउद्व्ववउ,  
निसिहिं न नंदि करावि कुवि किर लेइ वउ ।  
बलि दिणयरि अत्थमियइ जहि न हु जिण पुरउ  
दीसइ धरिउ न सुत्तइ जाहि जणि तूरउ ॥१८॥

अर्थ—जहाँ विधिचैत्यमें तीन-चार सुयोग्य श्रावकोंकी देख रेखमें देव द्रव्य खर्च किया जाता है। कोई भी रात्रीमें नन्दी स्थापन कराकर व्रत नहीं लेता है। सूर्यके अस्त हृष

बाद श्री जिनेश्वर देव सन्मुख धरा हुआ नैवेद्य-बलि-जहाँ नहीं दीखता है। अर्थात् रातमें नैवेद्य भी नहीं चढ़ाया जाता, और न लोगोंके सो जानेपर बाजोंका अवाज ही होता है—बाजे रातमें नहीं बजाये जाते।

जहिं रथणिहि रहभमणु कथाइ न कारियइ,  
लउडारसु जहिं पुरिमु वि दितउ वारियइ ।  
जहि जलकीडंदोलण हुंति न देवयह,  
माहमाल न निसिद्धी कथ अट्ठाहियह ॥१९॥

अर्थ— जहाँ विधिजिन चेत्योंमें रात्रीमें कभी भी रथ यात्रा नहीं कराई जाती। जहाँ दांडिया रास देते हुए पुरुषोंको भी रोका जाता है। जहाँ जल क्रोडा देवताओंके हिंडोले आदि भी नहीं होते। अष्टाहिक पूजा करने वालोंको माघमालाका निपेध नहीं है।

यद्यपि उपदेश रसायनमें ‘माघमाला’ करनेका निपेध है। यहाँ जो “निपेध नहीं है”— लिखा है यह दिग्म्बर भक्त नये प्रतिबोध पाये पेल्हक श्रावक आदिके उपरोधसे प्रभूततर दूषणके अभावसे कहा है। उपदेश रसायनोक्त निपेध सर्वदेशीय है यहाँ ‘एक देशीय विधि’ है।

जहि सावय जिणपडिमह करिहि पइठु न य  
इच्छाच्छंद न दीसहि जहि मुद्धंगिनय ।  
जहि उसुत्तपयट्ठह वयणु न निसुणियइ  
जहि अज्जुत्तु जिण-गुरुहु वि गेउ न गोइयइ ॥२०॥

अर्थ—जहाँ विधिचेत्योंमें श्री जिन प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा श्रावक नहीं कराते हैं। जहाँ भोले जी वो द्वारा बंदन कराते हुए स्वेन्छाचारी उत्सूत्र भाषी साध्वाभास व्याख्याननाहि देते हुए न तो देखे जाते हैं न सुने जाते हैं। जहाँ जिनेश्वर देवोंके या गुरुओंके अयोग्य भजन-गीत गहूँली-जिनसे श्री संसारिक वासनाओंकी वृद्धि हो ऐसे—नहीं गाये जाते।

जहि सावय तबोलु न भक्खहि लिति न य  
जहि पाणहि य धरंति न सावय सुद्धनय ।  
जहि भोयणु न य सयणु न अणुचित बइसणउ,  
सह पहरणि न पवेसु न दुडुउ बुल्लणउ ॥२१॥

अर्थ—जहाँ विधिचैत्योंमें श्रावक न ताम्बूल खाते हैं और न लाते हैं । जहाँ शुद्धनीति संपन्न श्रावक लोग पैरोंमें जूतेनहीं धारण करते । जहाँ न भोजन होता है, न सोना होता है, न अनुचित बैठना होता है न शस्त्रोंके साथ प्रवेश होता है और न गाली गलोज आदि दुष्ट बोलना ही होता है ॥२१॥

जहिं न हासु न वि हुडु न खिडु न रूसणउ,  
किन्तिनिमित्तु न दिजजइ जहिं धणु अपणउ ।  
करहि जि बहु आसायण जहिं ति न मेलियहि,  
मिलिय ति केलि करंति समाणु महेलियहिं ॥२२॥

अर्थ—जहाँ विधिचैत्योंमें न हँसी मजाक की जाती और न होड ही बढ़ी जातीहैं । न जुए आदि खेले जाते हैं और न रोष ही किया जाता है । जहाँ कीर्तिके लिये न अपना धन ही दिया जाता है, जो बहुत आसातना करते हैं, उन नटविरोंको न इकट्ठा ही किया जाता है । क्यों कि वैसे लोग कुचेट्टाओंसे स्थियोंके साथ कीड़ा कुतूहल करने लगते हैं ॥२२॥

जहिं संकंति न गहणु न माहि न मंडलउ  
जहिं सावयसिरि दीसइ कियउ न विटलउ ।  
ण्हवणयार जण मिलियि जहि न विभूसणउ  
सावयजगिहि न कीरइ जहि गिहचितणउ ॥२३॥

अर्थ—जहाँ न संक्रांतिमें न ग्रहण<sup>१</sup> में स्नान दान ही होता है न साध मासमें मंडल आदि की रचना हो की जाती है । जहाँ श्रावकोंके सिरमें पगड़ी फेटा आदि भी नहीं होता है । स्नान कराने वाले मनुष्योंको छोड़कर दूसरे लोग जहाँ विशेष-भूषण नहीं रखते हैं । जहाँ श्रावक लोग गृहव्यापारकी चिंता भी नहीं करते ॥२३॥

जहिं मलिणचेलंगिहिं जिणवरु पूइयइ  
मूलपडिम सुइभूइ वि छिवइ न सावियइ ।  
आरत्तिउ उत्तारितु जं किर जिणवरह  
तंपि न उत्तारिज्जइ बीयजिणेसरह ॥२४॥

अर्थ—जहाँ विधिचैत्योंमें मलिन वस्त्र एवं मलिन शरीरसे जिनेश्वरदेव नहीं पूजे जाते । पवित्र हुई भी श्राविका आकस्मिक स्त्री शरीर धर्मके हो जानेसे महान अनर्थकी संभावनासे मूल नायकजीकी प्रतिमाको स्पर्श नहीं करती हैं । क्योंकि कहा भी है—आउहिया बरा

१ ग्रहणमें स्नान और दान करने से मिथ्यात्व लगता है ।

सन्निहिया न खमरा जहाँ पडिमा—किये हुए अपराधको सन्निहित देवता नहीं सहहन करते जैसे प्रतिमा । मूल नायकजी सबके आब्दुदय हेतु होते हैं अतः मूलनायकजीका सर्व स्त्रियाँ नहीं करती हैं । जो आरती एक स्थान पर जिनेश्वर देवके उतार दी जाती है, उसीको दूसरे स्थान पर जिनेश्वर देवके सन्मुख जहाँ नहीं उतारी जाती निर्मात्य रूप हो जाने से ॥२४॥

जहिं फुल्लइं निम्मलु न अकखय-वणहलइ  
मणिमंडणभूसणइं न चेलइ निम्मलइ ।  
जित्थु न जइहि ममत्तु न जित्थु वि तव्वसणु,  
जहि न अथि गुरुदंसियनीइहि पम्हसणु ॥२५॥

अर्थ—जहाँ फूल निर्मात्य होते हैं न कि अक्षत—वनफल; और न मणि मण्डित अलंकार या निर्मल वस्त्र ही । जहाँ साधु यह मेरा मन्दिर है ऐसी ममता नहीं रखते हैं । न जहाँ उनका—साधुओंका रहना ही होता है । जहाँ गुरु-दर्शित नीतिको भुलाई नहीं जाती । २५ ।

जहिं पुच्छ्य सुसावय सुहगुरुलक्खणइ,  
भणिहि गुणन्नुय सच्चय पच्चक्खह तणइ ।  
जहिं इक्कुत्तु वि कीरइ निच्छइ सगुणउ,  
समयजुत्ति विहडन्तु न बहुलोयह तणउ ॥२६॥

अर्थ—जहाँ पूछनेपर गुणज्ञ सुश्रावक सच्चे आत्म प्रत्यक्ष श्रीमद्गुरुमहाराजके शुभ लक्षणोंको बताते हैं । जहाँ एक भी सुश्रावकका कहा हुआ गुण सम्पन्न कार्य निश्चयपूर्वक किया जाता है, और सिद्धान्त युक्तिसे मेल न रखने वाला बहुतसे लोगोंका कहा हुआ कार्य नहीं किया जाता । २६ ।

जहिं न अपु वन्निज्जइ परु वि न दूसियइ,  
जहिं सगुणु वन्निज्जइ विगुणु उवेहियइ ।  
जहि किर वत्थु-वियारणि कमु वि न बीहियइ  
जहि जिणवयणुत्तिन्तु न कह वि पर्यंपियइ ॥२७॥

अर्थ—जहाँ न अपनी स्तुति की जाती है न दूसरेको दूषित-निन्दित ही किया जाता है । जहाँ गुणवानकी तारीफ की जाती है एवं निगुणकी उपेक्षा । जहाँ वस्तु विचारणमें—यथार्थ वात कहनेमें किसीका भी भय नहीं माना जाता है । जहाँ कभी भी जिन वचनोंसे उनका हुआ—उत्सूत्र वचन-अविधि रूप नहीं बोला जाता है । २७ ।

इय बहुविह उसुत्तद्व जेण निसेहियइ,  
विहिजिणहरि सुपसत्यिहि लिहिवि निदंसियइ ।  
जुगपहाणु जिणवल्लहु सो किं न मन्नियइ,  
सुगुरु जासु सन्नाणु सुनिउणिहि वन्नियइ ॥२८॥

अर्थ—इस प्रकार बहुतसे उत्सूत्र-अविधि अनुष्ठान विधि जिन चैत्योंमें जिनने निषिद्ध कर दिये, एवं चित्तोड नरवर-नागपुर-मरुपुरादि नगरोंके विधि चैत्योंमें सु-प्रशस्तियोंमें लिखा लिखाकर प्रचारित करा दिये हैं। जिनका विशिष्ट भागम संयत ज्ञान सिद्धान्तवेदि निषुण महापुरुषों द्वारा प्रशंसित किया गया है। ऐसे युग प्रधान सुगुरु श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराज कैसे न माने जायें? अवश्यमेव मानने चाहिये ॥२८॥

लविमित्तु वि उसुत्तु जु इत्थु पयंपियइ,  
तसु विवाउ अइथोउ वि केवलि दंसियइ ।  
ताइं जि जे उसुत्तद्व कियइ निरंतरइ,  
ताह दुरक जे हुंति ति भूरि भवंतरइ ॥२९॥

अर्थ—लव मात्र भी जो उत्सूत्र यहां बोला जाता है उसका विपाक केवलि भगवान द्वारा बहुत अधिक दिखाया जाता है। उन्हों उत्सूत्र भाषणोंको एवं आचरणोंको जो निरंतर करते हैं, उनके लिये अनन्त भावान्तरोंमें भोगने योग्य दुःख होते हैं ॥ २९ ॥

उत्सूत्र भाषकोंकी कुछ चेष्टायें बताते हैं—

अपरिक्खयसुयनिहसिहि नियमद्वगव्वियहि,  
लोयपवाहपयट्टिहि नामिण सुविहियइं ।  
अवरुप्परमच्छरिण निदंसियसगुणिहि,  
पूआविज्जइ अप्पउ जिणु जिव निगिणिहि ॥३०॥

अर्थ—श्रुतज्ञानियोंकी कसौटी द्वारा अपरीक्षित, निज मतिगर्वित, लोक प्रवाहमें प्रवृत्त, नाममात्रके सुविहित, शुद्ध चारित्रियोंके लिये तो कहना ही क्या? आपसके शिथिला-चारियोंमें भी परस्पर मत्सरता रखते हुए अपने गुणोंको दिखानेवाले ऐसे निर्घृण साध्वाभास लोगों द्वारा दूसरोंकी निन्दा करके आत्माको पुजाते हैं ॥ ३१ ॥

इह अणुसोयपयद्वह संख न कु वि करइ,  
भवसायरि ति पडंति न इक्कु वि उच्चरइ ।

जे पडिसोय पयट्टहि अप्प वि जिय धरह,  
अवसय सामिय हुंति ति निबुद्धपुरवरह, ॥३१॥

**अर्थ—** संसारमें अनुश्रोत—लोक प्रवाहके अनुकूल—सुखशीत प्रवृत्तिवालोंकी कोई गिनती भी नहीं करता है। सुखशीलिये लोग भवसागरमें पड़ते हैं, एक भी पार नहीं उतरता। जो लोक प्रवाहके प्रतिश्रोत—प्रतिकूल अध्यात्म मार्गमें प्रवृत्त होते हैं वे निश्चय ही मुक्तिपुरीके स्वामी हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

जं आगम-आयरणिहि सहुँ न विसंवयइ,  
भणहि त वयणु निरुत्तु न सगुणु जं चयइ ।  
ते वसंति गिहिगेहि वि होइ तमाययणु,  
गइहि तिथु लहु लब्धइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥३२॥

**अर्थ—** आगम और आचरणके साथ विसंवास विपरीतता नहीं रखता ऐसे और निश्चित रूपसे सदगुण जिसको नहीं छोड़ते ऐसे वचनको जो बोलते हैं। ऐसे वे साधु गृहस्थके जिस घरमें रहते हैं वह स्थान भी आयतन—ज्ञानादि लाभको बढ़ानेवाला होता है। वहाँ जानेसे मुक्तिके सुखरत्नको भट्ट पाया जाता है । ३२ ।

विधि चैत्य जो कि अनिश्राकृत होता है उसीके प्रसंगसे निश्राकृत चैत्यादिके स्वरूपको बताते हैं—

पासत्थाइविबोहिय केइ जि सावयइं,  
कारावहि जिणमंदिरु तंमइभावियइं ।  
तं किर निस्साचैइउ अववायिण भणिउ,  
तिहि-पव्विहि तहि कीरइ वंदणु कारणिउ ॥३३॥

**अर्थ—** पासत्थादिकों द्वारा प्रतिबोधित कितनेक श्रावक तन्मत भावित चित्तबाले होकर श्रीजिनमंदिरको बताते हैं, उस चैत्यको अपवादसे निश्रा चैत्य कहा गया है। पर्व तिथि अष्टमी चतुर्दशी आदिमें एवं पर्यूषणादि पर्वोंमें वहाँ कारणसे बन्दन किया जा सकता है अनिश्राकृत चैत्यके अभावमें । ३३ ।

अनायतन बतानेकी इच्छावाले निशीथ सूत्रके प्रकारसे बताते हैं—

जहि लिंगिय जिणमंदिरि जिणदव्विण कयइं,  
मटि वसंति आसायण करहिं महंतियइ ।

तं पक्षिपि परिवन्निति साहम्भयथलिय,  
जहिं गय वंदणकज्जिण न सुदंसण मिलिय ॥३४॥

अर्थ—जहाँ मात्र साधु वेशधारी शिथिला चारि जिन मंदिरमें या जिन द्रव्यसे निर्मित मठमें रहते हैं और भारी आसानना करते हैं। उसको प्रकल्प श्रीनिशीथ अध्ययनमें साधार्मिक स्थली बताया है। वहाँ बन्दनके लिये गये हुए व्यक्ति सुदर्शन सम्यकत्वको नहीं पाते। ३४।

ओघ निर्युक्ति आदिमें बताये हुए प्रकारसे अनायतन बताते हैं—

ओहनिजुत्तावसयपयरणदंसियउ,  
तमणाययणु जु दावइ दुक्खपसंसियउ ।  
तहिं कारणि वि न जुत्तउ सावयजणगमणु,  
तहिं वमंति जे लिंगिय ताहि वि पयनमणु ॥३५॥

अर्थ—ओघनिर्युक्ति आवश्यक सूत्र आदि सिद्धान्तोंमें बताया हुआ निश्राकृत चैत्यरूप अनायतन, प्रशंसा करनेवालोंको नरकादि गति संबंधि दुःखको दिखाता है। अतः वहाँ कारण होनेपर भी श्रावकोंको जाना युक्ता नहीं है। वहाँ जो साधवाभास रहते हैं उनको पद बन्दन करना भी अयुक्त है। ३५।

वहाँ जानेमें जो दोप लगता है वह बताते हैं—

जाइज्जइ तहिं वावि (ठाणि) ति नमियहिं इत्थु जइ,  
गय नमंतजण पावहि गुणगणबृद्धिं जइ ।  
गइहि तत्थुति नमंतिहिं पाउ जु पावियइ,  
गमणु नमणु तहिं निच्छइ सगुणहिं वारियइ ॥३६॥

अर्थ—हाँ ? वहाँ जाया जाय ? और लिंगधारी चैत्य वासियोंको नमस्कार भी किया जाय ?? यदि गये हुए नमस्कार करनेवाले भाविक जन अपने गुण समुदायकी वृद्धि को पाते हों !!! परन्तु वहाँ जानेवाले और नमस्कारको करनेवाले यदि पापको ही पाते हो, तो सद्गुणी-गीतार्थीं द्वारा वहाँ जाना और चैत्यवासियोंको नमना निश्चय करके रोका गया है। ३६।

चैत्य वासियोंके जैसे ही किसेक वसतिवास करनेवाले भी भावसे अनायतन रूप हैं। अतः उनका अदर्शनीयत्व प्रतिपादन करते हैं—

वसहिहिं वसहिं बहुत्तउत्सुत्त पयंपिरइ,  
 करहिं किरिय जणरंजण निच्चु वि दुक्करय ।  
 परि सम्पत्तविहीण ति हीणिहि सेवियहिं,  
 तिहिं सहुं दंसणु सगगुण कुणहिं न पावियहिं ॥३७ ॥

अर्थ—अत्यन्तउत्सूत्रको बोलनेवाले कई वसतिमें भी रहते हैं। जन रंजनार्थ हमेशा दुष्कर-कठोर क्रियाको भी करते हैं। परन्तु सम्यकत्वसे हीन होनेसे वे हीन सम्यकत्व विकलों द्वारा ही से वे माने जाते हैं। इस लिये सद्गुणी-गीतार्थानुयायी सच्चे सम्यकत्व रसिक भव्यात्मा उन भाव-पापाचारियोंके साथ दर्शन-सद्गुरु सम्बन्धी व्यवहार नहीं करते हैं। ३७।

अनिश्च चैल निश्चाचैत्य साध्वाभास वासित अनयतन चैत्य—इन तीनों चैत्योंमें गमनादि विषय विभागको बताते हैं।

उत्सगिण विहिचैइउ पठमु पयासियउ ,  
 निसाकडु अववाइण दुइउ निंदंसियउ ।  
 जहि किर लिंगिय निवसहि तमिह अणाययणु,  
 तहि निसिढु सिद्धंति वि धम्मियजणगमणु ॥३८॥

अर्थ—उत्सर्ग रूपसे विधि चैत्यको जाने योग्य प्रथम प्रकाशित किया है। अपवाद रूपसे निश्चाकृत—जिसमें कि ज्ञाति गोत्र गच्छादिकी निश्च रहती है, पर जहाँ चैत्य वासी नहीं रहते हैं, ऐसे—चैत्यको जाने योग्य दूसरा दिखाया है। जहाँ लिंगधारी साध्वाभास रहते हैं उसको यहाँ प्रवचनमें अनायतन माना है, और वहांपर धार्मिक जनोंको जानेके लिये भी सिद्धान्तमें निषेध किया गया है। ३८।

इसी लिये कहते हैं—

विणु कारणि तहि गमणु न कुणहि जि सुविद्धियइ,  
 तिविहु जु चैइउ कहइ सु साहु वि मन्नियइ ।  
 त पुण दुविहु कहेइ जु सो अवगन्नियइ,  
 तेण लोउ इह सयलु वि भोलउ धुंधियइ ॥३९॥

अर्थ—विना कारण वहाँ सुविहित साधु एवं सदाचारी शावक गमन नहीं करते हैं। अनिश्चाकृत १ निश्चाकृत २ और अनायतन ३ रूप तीन प्रकारके चैत्योंको जो कहते हैं—प्रतिपादन करते हैं वे साधु भी मानने चाहिये दूसरे नहीं। उस चैत्यको जो दो प्रकार ही

बताता है अर्थात् अनायतन रूप तीसरे भेदको जो नहीं बनाता वह साधु भी अवगणना योग्य होता है। उस द्विविध चैत्य बताने वालेने इस संसारमें सारे ही भोले लोगोंको ठगा है। ३६।

इय निष्पुन्नद्व दुख्लह सिरिजिणवल्लहिण,  
तिविहु निवेइउ चेइउ सिवसिरिवल्लहिण ।  
उसुत्तइ वारंतिण सुत्तु कहंतइण,  
इह नवं व जिणसासण दंसिउ सुम्मइण ॥४०॥

अर्थ—इस प्रकार पुण्य हीनोंको दुर्लभ मोक्ष लक्ष्मीके बल्लभ श्रीजिनवल्लभ सूरी-श्वरजीने तीन प्रकारके चैत्य बताये हैं। उत्सूत्र आचारणाओंको रोकते हुए और सूत्रोक्त अनुष्ठानोंको कहते हुए, उन सन्मतिने प्राचीन ऐसे भी श्री जिन शासनको नयेके समान दिखा दिया है। ॥४०॥

इक्कवयणु जिणवल्लहु पहु वयणइ घणइं,  
किं व जंपिवि जणु सक्कइ सक्कु वि जइ मुणइ ।  
तसु पथभत्तइ सत्तह सत्तह भवभयह,  
होइ अन्तु सुनिरुत्तउ तव्वयणुज्जयह ॥४१॥

अर्थ—हे सखे ? तुम जानो कि श्रीजिनवल्लभ प्रभु एक वचनी होते हुए भी श्री वीरषट् कल्याण—विधि-विषय-पारतंच्य-चैत्य साधुगत कृत्याकृत्य-छह हाथ प्रमाण साधु प्रावरण कल्प-कषायादि द्रव्याहत जलग्रहणादि बहुतसे वचनोंको कैसे बोल सकते हैं। एक वचनकी शक्तिवाला बहुत वचनोंको कैसे बोल सकता है। यह यहां विरोध सा दिखाते हुए, विरोध भासालंकारको प्रकट किया है। विरोध परिहार यह है कि—श्री गुरुमहाराज का वचन सिद्धान्तसे अविरुद्ध और गीतार्थोंके आचरणानुसारी होनेसे विपरीतताको नहीं रखता। वे वचन चैत्य वासियों द्वारा लुप्त प्रायः होनेसे शक इन्द्र भी मुश्किलसे यदि जाने तो जाने।

अथवा यों अर्थ करना चाहिये कि श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराजके आगमानुसारी अनेक वचन जो कि पहिले कुछ बताये गये हैं—उनको हमारे जैसा एक वदन—मुख वाला व्यक्ति कैसे बोल सकता है। ऐसे उन गुरुदेवके पद सेवक—भव्यात्मा-जो कि उन गुरुदेवके वचन आज्ञाको माननेमें तत्पर हैं—उनके सातों भव-भयोंका सुनिश्चित रूपसे अन्त हो जाता है। ॥४१॥

इक्ककालु जसु विज्ज असेस वि वयणि द्विय,  
मिच्छदिद्वि वि वंदहिं किंकरभावद्विय ।

ठावि (ण) ठावि (ण) विहिपक्खु वि जिण अप्पडिखलिउ,  
फूडू पयडिउ निक्कवडिण परु अप्पउ कलिउ ॥४२॥

अर्थ— एक साथ सारी विद्यायें जिनके मुख कमलमें स्थित हो गई हैं। जिनको मिथ्या दृष्टि लोग भी सेवक भावसे बन्दन करते हैं। जिनने ठाम-ठाम विधि पक्षको अप्रति स्वलिततया स्फुट रूपसे परमत और स्वमतको निष्कपट भावसे जानकर प्रकाशित एवं प्रचारित किया है । ॥४२॥

तसु पयपंकयउ पुन्निहि पाविउ जण-भमरु,  
सुद्धनाण-महुपाणु करंतउ हुइ अमरु ।  
सत्थु हुन्तु सो जाणइ सत्थ पसत्थ सहि,  
कहि अणुवमु उवमिज्जइ केण समाणु सहि ? ॥४३॥

अर्थ— उन श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराजके चरण कमलको भव्यजन रूप भमरा बड़े पुण्यसे प्राप्त करके शुद्ध ज्ञान सब मधुपानको करता हुआ अमर हो जाता है शुद्ध ज्ञानको पानेसे स्वस्वा होता हुआ समस्त पवित्र शास्त्रोंको भी वह जानता है । हे सखे ऐसे परमोपकारी अनुपम गुरुदेवकी जिसके साथ उपमा दी जाय ? ॥४३॥

गुरु परंपरा बताते हैं—

वद्माणसूरिसीसु जिणेसरसूरिवरु,  
तासु सीसु जिणचन्दर्जईसरु जुगपवरु ।  
अभयदेउमुणिनाहु नवंगह विच्चिकरु,  
तसु पय-पंकय भसलु सलक्खणु चरणकरु ॥४४॥

अर्थ— श्री वर्द्धमान सूरीश्वरजी महाराजके शिष्य श्री जिनेश्वरसूरिजी महाराज हुए। उनके शिष्य युगप्रधान यतीश्वर श्रीजिनचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज हुए। उनके शिस्य नवांग वृत्तिकार मुनिनाथ श्रीअभयदेव सूरीश्वरजी महाराज हुए। उन्हीं गुरुदेवके चरण कमलोंमें भमरेके समान सुलक्षण सम्पन्न कर चरणादि अंगों पांगवाले श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराज हुए ॥४४॥

सिरजिणवल्लहु दुल्लहु निपुन्नहं जणहं,  
हउं न अंतु परियाणउं अहु जण ? तगुणह ।  
सुद्धधम्मि हउं ठाविउ जुगपवरागमिण,  
एउ वि मझं परियाणिउ तगुण-संकमिण ॥४५॥

अर्थ—हे भव्यात्मजनों ? पुण्य हीनजनोंको दुर्लभ ऐसे श्रीजिनबल्भसूरीश्वरके उन पुनीत गुणोंका अन्त मैं नहीं जानता हूं। परन्तु सद्गुण संकलनसे उनकी दया से ही यह भी मैंने जाना है कि श्रीयुगप्रधान आगमवाले गुरुदेवने मुझको शुद्ध-निष्पाप आगमोक्त आज्ञा पालन रूप धर्ममें ( विधि मार्गमें ) स्थापित किया गया हूं ॥४५॥

स्तुतिकी समाप्तिमें कर्ता अपने चरितसे दुःखी होते हुए सखेद फरमाते हैं—

भमिउभूरि भवसायरि तह वि न पत्तू मइ,  
सुगुरुरयणु जिणवल्लह दुल्लहु सुच्चमइ ।  
पाविय तेण न निव्वुइ इह पारत्तियइ,  
परिभव पत्त बहुँत न हुय पारत्तियइ ॥४६॥

अर्थ—भवसागरमें मैंने अनन्त भ्रमण किया तो भी परम विवेकी शुद्धमति दुर्लभ ऐसे श्रीजिनबल्भसूरीश्वरजी महाराज रूप सद्गुरु रत्न मुझको नहीं मिले। इसो लिये इस लोक सम्बन्धी और परलोग सम्बन्धी निवृत्ति-शान्ति मैंने नहीं पाई। जन्म-जन्मांतरोंमें बहुतसे परिभव-दुःख पाये, कहींसे परित्राण नहीं हुआ। या यों कहिये, परलोक हितकारी ज्ञानादिका लाभ न मिला ॥ ४६ ॥

उपसंहार करते हैं—

इय जुगपवरह सूरिहि सिरिजिणवल्लहह,  
नायसमयपरमत्थह बहुजणतुल्लहह ।  
तसु गुणथुइ बहुमाणिण सिरिजिणदत्तगुरु,  
करइ सु निरुवमु पावइ पउ जिणदत्तगुरु ॥४७॥

अर्थ—इस प्रकार निर्भीक शिरोमणि सुविहित खरतर विधि मार्गके परम प्रचारक युगप्रधान ज्ञान सिद्धान्त परमार्थ, भारेकमीं जीवोंके लिये दुर्लभ ऐसे श्रीमज्जिनबल्भभ सूरीश्वरजी महाराजकी गुणस्तुतिको बहुमान पूर्वक, श्री सम्पन्न जिनेश्वर भगवानके दिये हुए शासनके पालनसे गुरुता प्राप्त ऐसा जो श्रीजिनदत्तगुरु—भव्य स्तुति करता है वह श्रीजिनेश्वर भगवान द्वारा दिया हुआ अर्थात् सिद्धान्तमें दिखाये हुए गुरु निरूपम—मोक्ष पदको प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

१—श्रीजिनदत्त यह स्तुति कर्ताका अपना नाम है ।

यहां कई अव्युपन्न, प्राज्ञशिरोमणि लोग ऐसा विचार प्रचारित कर देते हैं कि देखो ? देखो ? कर्ता कविने अपने नामके साथ ‘गुरु शब्द’ जोड़ दिया क्या यह अभिमान नहीं

है ??? । परन्तु यदि व्याकरणकी ओर जिसका ध्यान कुछ भी होगा ? वह ऐसे पदको भी चमत्कारिक ढंगसे समझेगा । यहां एक मनोरंजक श्लोक याद आ गया वह लिख दिया जाता है ।

अहं च त्वं च राजेन्द्र लोकनाथावुभावपि ।

बहुब्रिहिरहं राजन् ! षष्ठीतपुरुषो भवान् ॥

अर्थ—हे राजेन्द्र मैं और आप दोनों ही लोकनाथ हैं। पर फर्क इतना ही है कि बहुत्रिहि समाससे मैं लोकनाथ हूं, और आप पष्ठोत्तपुरुष समास से लोक हैं नाथ जिसके—ऐसा तो मैं ‘लोकनाथ’ हूं और आप लोकोंके नाथ हैं इस लिये लोकनाथ हैं। अतः कत्तनि श्रीजिनदत्तगुरु शब्दका कैसे प्रयोग किया है यह ध्यानमें रखते हुए अर्थ होना चाहिये। इति

# ଇତି ଚର୍ଚରୀ ସମାପ୍ତ

जगत्प्रसिद्ध-दादाभिधान-जङ्गमयुगप्रधान-भट्टारक

सुविहित खरतर विधि मार्ग प्रवर्तक सूरि सम्राट्  
श्री श्री १००८ श्री मज्जिनदत्त सूरीश्वर जी महाराज विरचित

## उपदेश (धर्म) रसायनरासः

अनुवादक—श्रीमज्जिनहरिसागर सूरि

पणमह पास-वीरजिण भाविण  
तुम्हि सव्विं जिव मुच्छुपाविण  
घरववहारि म लगा अच्छह  
खणि खणि आउ गलंतउ पिच्छह ॥१॥

अर्थ—हे भव्य लोगों ? श्री पाद्मनाथ खामीको एवं शासनाधीश्वर श्री महावीर खामीको भावपूर्वक प्रणाम करो जिससे कि तुम सबलोग पापकमाँसे मुक्त हो जाओ। तुम घर व्यापारमें ही मत लगे रहो, प्रतिक्षण नष्ट होते हुए तुमारे आयुष्यको देखो ॥१॥

तब क्या करना चाहिये सो बताते हैं:—

लद्धउ माणुसजम्मु म हारहु  
अप्पा भव-समुदि गउ तारहु ।  
अप्पु म अप्पहु रायह रोसह  
करहु निहाणु म सव्वह दोसह ॥२॥

अर्थ—पाये हुए मनुष्य जन्मको निरर्थक मत हारो। भव-समुद्रमें पड़ी हुई अपनी आत्माको पार लगा दो। राग और द्वेषके आधीन अपनी आत्माको मत बनाओ। सब दोषोंका खजाना भी मत बनाओ ॥२॥

दुलहउ मणुयजम्मु जो पत्तउ  
सहलउ करहु तुम्हि सुनिरुत्तउ ।  
सुह गुरु-दंसण विणु सो सहलउ  
होइ न कीवइ वहलउ वहलउ ॥३॥

अर्थ—दुर्लभ मनुष्य-जन्म जो मिला है, उसको तुम निश्चय करके सफल बनाओ । निष्कारण परोपकारो श्री सद्गुरु महाराजके दर्शनके बिना वह जोवनकी सफलता किसी प्रकारसे झटपट ( शीघ्रतासे ) नहीं होती है ॥३॥

श्री सद्गुरुका स्वरूप बताते हैं:—

सुगुरु सु बुच्छइ सच्चउ भासइ  
परपरिवायि-नियरु जसु नासइ  
सच्चिव जीव जिव अप्पउ रक्खइ  
मुक्ख-मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ ॥४॥

अर्थ—सुगुरु वे कहे जाते हैं, जो सत्य बोलते हैं । पराई निन्दा करनेवालोंका समुदाय जिनसे दूर ही भागता रहता है । सब जीवोंको जो अपनी आत्माके समान रक्षा करते हैं । पूछनेपर जो मोक्षमार्गको बताते हैं ॥४॥

जो जिण-वयणु जहडिउ जाणइ  
दब्बु खित्तु कालु वि परियाणइ ।  
जो उस्समग्ववाय वि कारइ  
उम्मग्गिण जणु जंतउ वोरइ ॥५॥

अर्थ—जो श्री जिनेश्वर देवके अविसंवादी वचनोंको यथावृत्तित—जैसा हैं वैसा ही जानते हैं । जो द्रव्य क्षेत्रकाल और भावोंको भी ( संयम निर्वाह आदि हेतु भी भली-भांति पहचानते हैं । जो उत्सर्ग और अपवाद विधिको भी यथास्थान करवाते हैं उन्मार्गमें जाते हुए लोगोंको जो रोकते हैं ॥५॥

इसी प्रसंगमें लोकप्रवाह रूप नदी और द्रव्य नदीका इलेषालंकारसे शिलष्टस्वरूप बताते हैं:—

इह विसमी गुरुगिरिहि समुद्धिय  
लोयपवाह—सरिय कुपइडिय  
जसु गुरुपोउ नात्यि सो निज्जइ  
तसु पवाहि पडियउ परिखिज्जइ ॥६॥

अर्थ—इस लोकमें कुगुरु वचनोंसे समुत्थित महान् अनर्थ हेतु-विषम लोक प्रवाह रूप नदी कुत्सित ढंगसे प्रतिष्ठित है । जिसके पास सद्गुरु रूप जहाज नहीं है ऐसे

आदमीको वह बहा ले जाती है । उसके प्रवाहमें पड़ा हुआ वह दुर्गतिके दुःखोंसे दुःखित होता है । यह तो हुआ लोक प्रवाह रूप नदीका वर्णन, इसी शकोकसे द्रव्यनदीका स्वरूप भी निकलता है- जैसे कि—यहां बड़े पहाड़ोंसे लोगोंको बहा ले जानेवाली विषम नदौ उठती है और क-पृथ्वीमें प्रतिष्ठित होती है जिसके पास गुरु-बड़ा जहाज नहीं होता उसको वह बहा ले जाती है । और उसके प्रवाहमें पड़ा हुआ व्यक्ति खिन्न हो जाता है ॥६॥

सा धण जड़ परि पूरिय दुत्तर  
किव तरंति जे हुंति निरुत्तर  
विरला किवि तरंति जि सदुत्तर  
ते लहंति सुखवद्व उत्तरुत्तर ॥७॥

अर्थ—वह लोक प्रवाह रूप नदी वहुत जड़ मनुष्योंसे व्याप्र होनेके कारण दुःखसे तिरने योग्य दुस्तर है । जो विशिष्ट विवेकके अभावमें उत्तर देनेके काबिल नहीं होते अर्थात् निरुत्तर होते हैं वे—उसको कैसे तिर सकते हैं । कितनेक विरले लोग जो विशिष्ट विवेक विचार सम्पन्न उत्तर देनेकी शक्ति रखते हैं वे सदुत्तर लोग उस लोक प्रवाह रूप नदीको तिर जाते हैं और उत्तरोत्तर स्वर्गापवर्गके सुखोंको प्राप्त करते हैं । द्रव्यनदी पक्षमें वह धने जलसे परिपूरित दुस्तर होता है । जो तिरनेकी शक्तिसं हीन-निरुत्तर हैं वे लोग उसको कैसे पार कर सकते हैं । जिनमें तिरनेकी शक्ति है अर्थात् जो सदुत्तर हैं, वे कोई विरला व्यक्ति ही उसको पार करते हैं, और उत्तरोत्तर कुटुम्ब संगम-लक्ष्मी संभोग आदि सुखोंको पाते हैं ॥७॥

गुरु-पवहणु निष्पुनिन न लब्धमद्व  
तिणि पवाहि जणु पडियउ ब्रुव्यमद्व  
सा संसार-समुद्दि पद्मद्वी  
जहि सुखवह वात्ता वि पणद्वी ॥८॥

अर्थ—पुण्यहीन व्यक्तियोंको सद्गुरु रूप जहाज नहीं मिलता । इसलिये उस लोक प्रवाहमें पड़ा हुआ प्राणी बहजा ही जाता है । वह लोक प्रवाह रूप नदी तो आखिर चार गति चौरासी लाख जीवा योनि भ्रमण रूप संसार समुद्रमें जा गिरती है । जहां कि सुखों का मिलना तो दूर, सुखकी बात भी नष्ट हो जाती है । द्रव्य नदी पक्षमें गुरु प्रवहण-बड़ा जहा जहाज—निर्धनको नहीं मिलता ।

तहिं गय जण कुगाहिहिं खज्जहिं  
मयर-गरुयदाढगिगहि भिज्जहिं ।

अपु न मुणहि न परियाणहिं  
सुखलच्छि सुमिणे वि न माणहिं ॥९॥

अर्थ—उस लोक प्रवाह नदीमें पड़े हुए मनुष्य कदम्बहोंसे खाये जाते हैं। अर्थात्—दुराप्राधीन हो जाते हैं। अहंकारी कुगुरुओंके हृषि उत्सूत्र भाषण आचरण रूप दुराप्रहोंसे भेदे जाते हैं—अर्थात् अविधि मार्गमें वासित किये जाते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व मूर्च्छित हो जानेसे वे न आत्माको न पर को ही जान सकते हैं, एवं स्वप्नमें भी मोक्षादि सुख लक्ष्यमीको नहीं भोगते हैं। द्रव्य नदी पक्षमें कुत्सित जलचर विशेष खाते हैं भगर आदि की बड़ी दाढ़ोंके अग्रभागसे विदारे जाते हैं मूर्च्छित हो जाते हैं आदि ॥९॥

उन लोक प्रवाह नदीमें पड़े प्राणियोंके लिये किसी सत्पुरुष विशेषकी चेष्टा बताते हैं—

गुरु-पवहणु जइ किर कु वि याणइ  
परउवयाररसिय भड्हाणइ ।  
ता गयचेयण ते जण पिच्छइ  
क्रिंचि सजीउसो वि तं निच्छइ ॥१०॥

अर्थ—लोक प्रवाह नदी में पड़े जीवों के उद्धारके लिये यदि कोई परोपकार रसिक सत्पुरुष श्री सद्गुरु महाराज रूप जहाज को पतित प्राणियों की अनिच्छा रहते हुए—हठात् जवरदस्ती भी ले आता है, उस समय वह उन चेतना विकल मूर्च्छित जनों को देखता है। उनमें अगर कोई कुछ सजीव होता है वह भी अपने कर्म दोष से उस सद्गुरु महाराज रूप जहाज को नहीं चाहता अर्थात् आज्ञा पालन रूप सुविहित विधि मार्ग में प्रवृत्ति नहीं करता। द्रव्य नदी पक्ष में अर्थ स्पष्ट ही है ॥ १० ॥

कट्टिण कु वि जइ आरोविज्जइ  
तु वि तिण नीसत्तिण रोविज्जइ ।  
कच्छ ज दिज्जइ किर रोवंतह  
सा असुइहि भरियइ पिच्छंतह ॥११॥

अर्थ—यदि परोपकार रसिक सत्पुरुष कष्ट करके भी लोक प्रवाह नदी पतित जीवों को श्रीसद्गुरु महाराज रूप जहाजमें आरोपित करेतो भी निःसत्त्वता—निरवल चित्तवाला होनेसे वह रोने लग जाता है। यदि रोते हुए को रोकनेके लिये मजबूती की लंगौट-दी जाय-बंधाई जाय तो उसको भी वह अंशुची से देने वाले के देखते हुए ही भर देता है—अर्थात्

अविधि आचरण करनेके साथ २ निरर्थक निदा प्रचार में वह पतित जन लग जाता है ॥११॥

कर्मोंकी बहुलता एवं शक्ति विकलताके कारणसे ऐसे अनधिकारीके लिये फलाभाव श्लेषालंकारसे बताते हैं :—

धर्ममु सु धरणु कु सक्षइ कायरु ?

तहिं गुणु कवणु चडावइ सायरु ?

तसु सुहत्थु निव्वाणु किं संधइ ?

मुक्ख किं करइ राह किं सु विंधइ ॥१२॥

अर्थ— कायर पुरुष धर्मको क्या धारण कर सकता है ? अगर धारण भी कर ले तो उत्तरोत्तर वृद्धिलक्षण गुणको सादर कौन आरोपित कर सकता है ? उसके सुखके लिये निवाण हेतु अनुष्ठानको भी कौन कृपालु जोड़ सकता है ? इस हालतमें वह मोक्ष भी क्या प्राप्त कर सकता है ? और राधा—आत्माकी दिव्य धाराको भी वह क्या बीध सकता है ? श्लेषालंकारमें पक्षमें—‘धर्ममु’ का अर्थ मनुष्य, ‘गुणु’ का अर्थ प्रत्यञ्चा दोरी, ‘नि-व्वाणु’ का अर्थ—निश्चित बाण, ‘मुक्ख’ का अर्थ वाण छोड़ना, ‘राह’ का अर्थ उलटे सीधे आठ चक्रोंके बीचमें रहो हुई, काष्ठ-पुतलीकी आंखकी कीकी करना चाहिये । दोनोंका निष्कर्ष यह होता है कि न कायर व्यक्ति धर्मको धारण करके यावत मोक्षास्थित आत्माकी दिव्य धाराको ही बीध सकता है, और न कायर मनुष्य धनुष्यको धारण करके राधावेद कर सकता है ॥१२॥

कायरके समान ही अस्थिरवृत्ति वाला भी धर्ममें अयोग्य होता है यह बताते हैं :—

तसु किव होइ सुनिव्वुइ-संगमु ?

अथिरु जु जिव किक्काणु तुरंगमु ।

कुप्पहि पडइ न मग्गि विलगगइ

वायह भरिउ जहिच्छइ वग्गइ ॥१३॥

अर्थ—जो किक्काण देशीय घोड़ेके जैसा मन बचन और कायासे अत्यधिक चपल-अस्थिर है, उस व्यक्तिके सुनिवृत्ति-परम समाधिका संगम कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं । वह लोकप्रवाह रूप—कुमार्गमें पड़ता है । ज्ञानादि सुमार्गमें तो वह लगता ही नहीं । अविद्या जनित अहंकारवाद रूप कुपित वायुसे भरा हुआ जैसी मनमें आती है, वैसी यथेच्छ कुचेष्टायें करता है । बेलगाम किक्काण देशीय चंचल घोड़ा भी वायुसे भरा जाता है, और कूदता हुआ, मार्गको छोड़ कुमार्गमें पड़ता है । सुखसे वंचित हो जाता है ।

खउजइ सावएहि सुबहुत्तिहि  
 भिजइ सामएहि गुरुगत्तिहि ।  
 वारधसंघ-भय पडइ सु खडुह  
 पडियउ होइ सु कूडउ हडुह ॥१४॥

अर्थ—लोक प्रवाह रूप कुपथमें पड़ा हुआ वह अस्थिर विचारों वाला मुग्ध जीव बहुतसे नामधारी श्रावकों द्वारा धनसे खाया जाता है। सामद—कोमल पापोपदेश देने-वाले कुगुरुओंसे भेदा जाता है—कुवासना वासित किया जाता है। महा भयोत्पादक बाघके जैसे निर्गुण-दुष्ट बहुजनोंके संघके भयसे अविधि आचरणके बाद नरक रूप खड़में गिरता है। पतित होनेपर निर्गुण जीवन हाँनेसे केवल हड्डियोंका ढेर मात्र रह जाता है। अर्थान्तर पक्षमें—सावएहि—श्वापद जंगली जानवरोंसे खाया जाता है। सामएहि गुरुगत्तिहि—गुरुमात्र हाथियोंसे भेदा जाता है। खड़में गिरकर केवल हड्डियोंका ढेर हो जाता है ॥१४॥

तेण जम्मु इहु नियउ निरत्थउ  
 नियमत्थइ देविणु पुलहत्थउ ।  
 जइ किर तिण कुलि जम्मु वि पाविउ  
 जाइत्तु तु वि गुण न स् दाविउ ॥१५॥

अर्थ—उस कायर एवं अस्थिर स्वभावी पुरुषने इस संसारमें सद्गम्मकी विकलतासे अपना माथा ठोककर अपने जन्मको निरर्थक बना दिया। यदि उसने अच्छे कुलमें जातियुक्त-सुन्दरतादि सम्पन्न जन्म भी पाया तो भी विधिमार्ग—सद्गम्मचिरणरूप लोकोंतर गुणको नहीं दिखाया ॥१५॥

जइ किर वरिससयाउ वि होइ  
 पाउ इक्कु परिसंचइ सोइ ।  
 कह वि सो वि जिणदिक्ख पवउजइ  
 तह वि न सावउजइ परिवउजइ ॥१६॥

अर्थ—तथोक्त अस्थिर स्वभाव वाला पुरुष यदि सौ वर्षकी आयुष्य वाला हो तो भी वह केवल पापका ही संचय करता रहता है। किसी भी तरहसे अगर वह जैनी दीक्षाको ले भी लेता है तो भी सावध सपाप कायोंको नहीं छोड़ता है ॥१६॥

गजजइ मुच्छह लाअह अगगइ  
लक्खण तक्क वियारण लगगइ ।  
भणइ जिणागमु सहु वक्खाणउं  
तं पि वियारमि जं लुक्काणउं ॥१७॥

अर्थ—तथोक्ति दीक्षित साध्वाभास भोले लोगोंके सामने गर्जता है। लक्षण-व्याकरण, और तर्क नहीं जानता हुआ भी, जानता हूं इस ढोंगसे विचारने लगता है। सभी जैन आगमोंका मैं व्याख्यान करता हूं जो लौकिक श्रुति-सूति, पुराणादि शास्त्र हैं उनको भी मैं विचारता हूं—जानता हूं। जो कि यथार्थमें जानता कुछ नहीं ॥१७॥

अच्छमास चउमासह पारइ  
मलु अबिंभतरु बाहिरि धारइ ।  
कहइ उसुत्त-उम्मगगपयाइं  
पडिक्कमण्य-वंदणयगयाइं ॥१८॥

अर्थ—जो आधा मास चार मास आदि तप पारता है। अन्दर बाहिर मल-मलिनता भी धारण करता है, श्रावकोंको प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिये, साधु आदिको भी प्रतिक्रमणमें क्षेत्र देवता आदिके कायोत्सर्ग नहीं करना चाहिये, अन्तमें तीन स्तुति ‘नमोस्तु वद्द्व मानाय’—आदिके अनन्तर नमुत्थुणं नहीं बोलना चाहिये साधिव्यां खड़ी २ ही द्वादशावर्त वंदन करें, इत्यादि प्रतिक्रमण सम्बन्धी और वंदन सम्बन्धी उत्सूत्र—उन्मार्ग रूप अविधि पदोंको कहता है ॥१८॥

पर न मुणइ तयत्थु जो अच्छइ  
लोयपवाहि पडित सु वि गच्छइ ।  
जइ गीयत्थु को वि तं वारइ  
ता तं उट्ठिवि लउडइ मारइ ॥१९॥

अर्थ—परन्तु वह लोक प्रतिक्रमणादि विधिके अर्थको नहिं जानते हैं, यहांपर दशिका पर्यन्त वस्त्रको पकड़ कर उन्टकिकासन रहा हुआ प्रति लेखणा करे यह अर्थ है, पर सच्चे परमार्थको नहिं जानके साधिव्यों से खड़े-खड़े वंदन करनेसे हैं, सत्य पर्मार्थ होने पर भी मल धारक लोक प्रवाहमें सामिल होकर चलते हैं यहि कोइ भी सौतार्थ पुरुष उसको ऐसा करनेसे रोकता है तो वह लट्टसे मारनेको उठाता ॥१९॥

धर्मिय जणु सत्येण वियारद्द  
 सु वि ते धर्मिय सत्थि वियारद्द ।  
 तन्विहलोइहि सो परियरियउ  
 तउ गीयत्थिहि सो परिहरियउ ॥२०॥

अर्थ—धार्मिक जन उत्सूत्रभाषकोंको प्रवृत्तिको शास्त्रोंसे विचारते हैं—अयोग्य बताते हैं, और वह उत्सूत्र भाषक उन धार्मिक जनोंको शास्त्रोंसे विचारते हैं—मारनेको दौड़ते हैं। इस प्रकार उच्छृङ्खल प्रवृत्तिवाले उत्सूत्र आचरण करनेवाले लोगोंसे वह अपना लिया जाता है। इसलिये गीतार्थ महापुरुष उसका त्याग कर देते हैं ॥२०॥

जो गीयत्थु सु करद्द न मच्छरु  
 सु वि जीवंतु न मिल्लद्द मच्छरु ।  
 सुद्दद्द धर्मि जु लग्गद्द विरलउ  
 संधि सु बज्जु कहिज्जद्द जवलउ ॥२१॥

अर्थ—जो गीतार्थ होता है, वह मात्सर्य भावको नहीं रखता और जो वह मलादि बाह्य प्रवृत्तिधारक उत्सूत्राचारी गीतार्थोंके प्रति यावज्जीवन मात्सर्यको नहीं छोड़ता है। कोई विरला पुरुष ही शुद्ध धर्ममें प्रवृत्तमान होता है। वह भी प्रवाह पतित जन समूह द्वारा चाप्डाल आदिके जैसे जुदा संघ बाह्य माना जाता है ॥२१॥

पइ पइ पाणिउ तसु वाहिज्जद्द  
 उवसमि थक्कु सो वि वाहिज्जद्द ।  
 तस्सावय सावय जिब लग्गहिं  
 धर्मियलोयह चिल्डुइ मग्गहिं ॥२२॥

अर्थ—शुद्ध विधि मार्ग प्रवृत्त धर्मात्मा पुरुषके पद-पदपर छिद्र ढूँढ़े जाते हैं और शान्त वृत्ति रखते हुए भी वह उस प्रवाह पतित दुष्ट संघके द्वारा सताया जाता है। दुष्ट संघ के श्रावक श्यापद—जङ्गली जानवरोंके जैसे पीछे लगते हैं। धार्मिक लोगोंके छिद्रोंको ढूँढ़ते रहते हैं ॥२२॥

विहिचेईहरि अविहिकरेवद्द  
 करहि उवाय बहुत्त ति लेवद्द ।  
 जद्द विहिजिणहरि अविहि पयद्दद्द  
 ता घिउ सन्तुयमज्जि पलुद्दद्द ॥२३॥

अर्थ—वे प्रवाह पतित कुश्रावक विधि चैत्यमें अविधि करनेके लिये बहुतसे उपाय काममें लाते हैं। परन्तु उनकी चलती नहीं, यदि कदाचित् विधि जिन मन्दिरमें अविधि-प्रमादाचरण हो जाय तब तो, मानो ‘सत्तूमें धी पड़ा हो’ वैसे वे मानने लगते हैं ॥२३॥

जइ किर नरवइ कि वि दूसमवस  
ताहि वि अप्पहि विहिचेइय दूस।  
तह वि न धम्मिय विहि विणु झगड़हि  
जइ ते सविव वि उड्हहि लगुडिहि ॥२४॥

अर्थ—यदि दुःष्म कालके प्रभावसे कोई राजा उन अविधिकारियोंको दो चार दस विधिचैत्य पूजा करनेके लिये सौंप दे, तो भी धार्मिक जन विधिके बिना उन अविधि-कारियोंसे अगर वे सबके सब लट्ठ लेकर उठे तो भी झगड़ा नहीं करते हैं ॥२४॥

निच्चु वि सुगुरु-देवपयभत्तह  
पणपरमिठि सरंतह संतह।  
सासण सुर पसन्न ते भव्वइ  
धम्मिय कज्जि पसाहहि सव्वइ ॥२५॥

अर्थ—इस प्रकार होने पर भी, हमेशा देव गुरुकी भक्ति करनेवाले, श्री पंचपरमेष्ठी भगवानका ध्यान करनेवाले, उन विधि करनेवाले सज्जन पुरुषोंके सारे मन चाहे धार्मिक कार्य प्रसन्न हुए शासन देव सिद्ध कर देते हैं ॥२५॥

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ  
परु मारइ कीवइ जुज्जंतउ।  
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ  
परमपइ निवसइ सो सासइ ॥२६॥

अर्थ—विधि मार्गकी साधना करते हुए धार्मिक जनको यदि कोई अविधि करने-वाला दूसरा व्यक्ति मार भी दे तो उसकी विधि साधकका धर्म रहता ही है, नष्ट नहीं होता मर करके भी वह विधि साधनाके प्रभावसे शाश्वत ऐसे परम पदमें वास करता है ॥२६॥

सावय विहिधम्मह अहिगारिय  
जिज्ज न हुंति दीहसंसारिय

अविहि करिंति न सुहगुरुवारिय  
जिणसंबंधिय धरहि न दारिय ॥२७॥

अर्थ—जो श्रावक विधि धर्मके अधिकारी होते हैं, वे दीर्घ संसारी—बहुकाल तक संसारमें भटकनेवाले नहीं होते। सुविहित गुरुसे रोके हुए वे अविधिको नहीं करते हैं, और न जिनमन्दिर सम्बन्धिनी वेश्याको ही धारते हैं—रखते हैं ॥२७॥

—विधि बताते हैं—

जइ किर फुलइ लब्मइ मुल्लिण  
तो वाडिय न करहि सहु कुविण ।  
थावर घर-हट्टइ न करावहि  
जिणधणु संगहु करि न वद्धारहि ॥२८॥

अर्थ—यदि मूल्य-कीम्मतसे फूल मिल जायें तो कुएँके साथ बगीचा न बनावे। स्थावर—मिलकतमें घर-हाट भी मन्दिरके नामसे न बनावे। देव द्रव्यका संग्रह करके उसको न बढ़ावे ॥२८॥

जइ किर कु वि मरंतु घर-हट्टइ  
देइ त लिज्जहि लहणावट्टइ ।  
अह कु वि भत्तिहि देइ त लिज्जहि  
तब्भाडयधणि जिण पूइज्जहि ॥२९॥

अर्थ—यदि कोई मरते समय घर-टुकान मन्दिरके नाम अपना कर्ज छुड़ानेके लिये देता है तो वह लेना चाहिये। अथवा कोई भक्तिसे देता भी है तो लेना चाहिये और उसके भाड़ेकी आमदनी की जिनपूजा आदिमें लगा तेनी चाहिये ॥२९॥

दित न सावय ते वारिज्जहि  
धम्मिकज्जि ते उच्छाहिज्जहि ।  
घरवावारु सव्वु जिव मिल्लहि  
जिव न कसाइहि ते पिलिज्जहि ॥३०॥

अर्थ—मन्दिरके नाम कर्ज पेटे या भक्तिसे घर-हाट आदि देते हुए श्रावकोंको रोकना नहीं चाहिये, बल्कि धर्मकार्यमें उत्साहित करते जाना चाहिये। जिससे वो घर व्यापारको छोड़ें और क्रोधमान आदि कषायोंसे भी वे न पीड़े जायें ॥३०॥

तिव तिव धम्मु कहिंति सयाणा  
जिव ते मरिवि हुंति सुरराणा ।  
चित्तासोय करंत द्वाहिय  
जण तहिं कय हवंति नद्वाहिय ॥३१॥

अर्थ—सज्जन गीतार्थ पुरुष वैसे-वैसे धर्मको फरमाते हैं जिसको आचरण करके मरके भी मनुष्य देव-देवेन्द्र आदि हो जाते हैं। चैत्र और आश्विन मासमें श्रावक जन अष्टाहिका—शाश्वतयात्रा करते हैं, जिसके करनेसे वे नष्ट चिन्तावाले व्याधिरहित हो जाते हैं ॥३१॥

जिव कल्लाणयपुष्टिहि किञ्जहिं  
तिव करिति सावय जहसत्तिहिं ।  
जा लहुडी सा नच्चाविज्जहिं  
वडी सुगुरु-वयणि आणिज्जइ ॥३२॥

अर्थ—श्री जिनेश्वर देवोंके जन्म कल्याणक आदिके पीछे देवता अष्टाहिक महिमा नंदीश्वर द्वीपमें करते हैं। वैसे श्रावक भी यथाशक्ति अष्टाहिकादिक महोत्सव करते हैं। उसमें जो लड़कीयें नाचनेवाली होती हैं वे नचाई जाती हैं। सुगुरुकी आज्ञासे बड़ी नाचनेवाली लानी हो तो लानी चाहिये ॥३२॥

जोवणत्थ जा नच्चइ दारी  
सा लगइ सावयह वियारी ।  
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टहिं  
जंतिहि दिवसिहिं धम्मह फिट्टहिं ॥३३॥

अर्थ—युवावस्थावाली जो वेश्या नाचती है वह श्रावकोंको ठगने लगती है। उसके लिये श्रावकोंके लड़के परस्परमें विरक्त चित्तवाले हो जाते हैं—लड़ते हैं। एवं कुछ दिनोंके बाद धर्मसे भी भ्रष्ट हो जाते हैं ॥३३॥

१—आजकल जैनेतर मन्दिरोंमें जैसे वेश्याएँ नाचती हैं वैसे ही चैत्यवासियोंके जमानेमें जैन मन्दिरोंमें नाचती थीं। जैन शास्त्रोंमें मन्दिरमें नृत्य निषेध नहीं होनेसे प्रस्तुत प्रवृत्ति होती थी। इसमें जो कुप्रवृत्ति थी उसे रोकनेको ऊपरका श्लोक बना प्रतीत होता है। छोटी बच्चियाँ यदि नाचे भी तो विकारके बजाय भक्तिभाव ही बढ़ता है। तस्वीरी वेश्याओंका नाच—जो कि उस समय प्रस्तुत था उसका विकारवर्द्धक होनेसे निषेध कर दिया है, आजकल तो वेश्या-नृत्य ही बन्द है।

बहुय लोय रायंध स पिच्छहि  
जिणमुइ-पंकउ विरला वंछहि ।  
जणु जिणभवणि सुहत्थु जु आयउ  
मरइ सु तिक्खकडविखहि घायउ ॥३४॥

अर्थ—तरुणी वेश्याको रागान्ध होकर बहुत लोग देखते हैं और श्री जिन भगवानके सुखकमलके तो फिर विरले ही दर्शन करना चाहते हैं। जो मनुष्य सुखके लिये श्री जिन मंदिरमें आया था पर उसके तीख कटाक्ष बाणोंसे घायल होकर मारा जाता है ॥३४॥

राग विरुद्धा नवि गाइज्जहिं  
हियइ धरंतिहि जिणगुण गिज्जहिं ।  
पाड वि न हु अजुत वाइज्जहिं  
लइवुडिडउंडि-पमुह वारिज्जहिं ॥३५॥

अर्थ—विकारवर्द्धक विरुद्ध राग, भजन भी जिनमंदिरोंमें नहीं गाने चाहिये। हृदयमें श्री जिन गुणोंको धारण करते हुए वैराग्य, शान्ति, ज्ञान-भक्ति—प्रधान भजन ही गाने चाहिये। मरणादि अवस्थासूचक पाड आदि देश-विदेशके बाजे भी नहीं बजाने चाहिये। “लइ बुडि डउंडि”—प्रमुख भी रोक देने चाहिये ॥३५॥

उच्चिय थुत्ति-थुयपाठ पटिज्जहिं  
जे सिद्धंतिहिं सहु संधिज्जहिं ।  
तालारासु वि दिंति न रयणिहि  
दिवसि वि लउडारसु सहुं पुरिसिहिं ॥३६॥

अर्थ—उचित स्तुति स्त्रोत्र पाठ ही पढ़ने चाहिये—जो कि सिद्धान्तसे भी मेल रखते हों। तालियोंको पीटते हुए—गरबे आदि भी रात्रिमें नहीं देना चाहिये। पुरुषोंके साथ ढाँडियारास दिनमें नहीं खेलना चाहिये, प्रमादसे मस्तक आदिमें चोट लगने आदिकी सम्भावना होनेसे ॥३६॥

धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं  
भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं ।  
चक्खवट्टि - बल - रायह चरियइं  
नच्चिवि अंति हुँति पव्वइयइं ॥३७॥

अर्थ—धार्मिक भावना परक नाटक खेलने हों तो खेलने चाहिये । भरत चक्रवर्ती सगर चक्रवर्ती आदिके निष्कर्मण-दीक्षा आदि भाव, नाटकोंमें कहने चाहिये । दूसरे भी चक्रवर्ती बलदेव दशार्णभद्र आदि राजा लोगोंके चरित नाटकोंमें बताने चाहिये । अधिक क्या ? वे ही नाटक होने चाहिये जिनके अन्तमें दीक्षाके भाव हों ॥३७॥

हास खिडु हुडु वि वजिजज्जहिं  
सहु पुरिसेहि वि केलिन किज्जहिं ।  
रत्तहिं जुवइपवेसु निवारहिं  
नहवणु नंदि न पइटु करावहिं ॥३८॥

अर्थ—मंदिरमें हँसी मजाक—कीड़ा कुतूहल—होड शर्त आदिका भी त्याग करना चाहिये । पुरुषोंके साथ कीड़ा नहीं करना चाहिये । रात्रिमें खियोंका प्रवेश रोक देते हैं और स्नात्र-नंदिस्थापना एवं प्रतिष्ठाको नहीं कराते हैं ॥३८॥

माहमाल - जलकीलंदोलय  
ति वि अजुत्त न करंति गुणालय ।  
बलि अत्यमियइ दिणयरि न धरहिं  
घरकज्जइं पुण जिणहरि न करहिं ॥३९॥

अर्थ—माघ माला--जलकेलि--देवताओंके हिंडोल आदि सभी अनागमिक—अयुक्त काम गुणवान् श्रावक लोग जिनमंदिरमें नहीं करते हैं । सूर्यके अस्त होनेपर बलि-नैवेद्य भी नहीं चढ़ाते हैं । घर सन्बन्धी कामोंको भी मंदिरमें नहीं करते हैं ॥३९॥

चैत्य सम्बन्धी विधिके बताये बाद विशिष्टाचार्यके स्वरूपको बताते हैं:—

सूरि ति विहिजिणहरि वकखाणहिं  
तहिं जे अविहि उत्सुक्तु न आणहिं  
नंदि - पइटुह ते अहिगारिय  
सूरि ति जे तदवरि ते वारिय ॥४०॥

अर्थ—वेही आचार्य आचार्यपदके योग्य हैं जो विधि जिन चैत्यमें व्याख्यान देते हैं, उसमें अविधि या सूत्र-विरुद्ध कोई बात नहीं लाते । वे ही नंदिस्थापनाके एवं मूर्ति प्रतिष्ठाके अधिकारी होते हैं । उनसे भिन्न जो आचार्य नामधारी भी हैं उनका निवारण करना चाहिये ॥४०॥

एगु जुगप्पहाणु गुरु मन्नहिं  
 जो जिण गणिगुरु पवयणि वन्नहिं  
 तासु सीसि गुणसिंगु समुद्दइ  
 पवयणु-कज्जु जु साहइ लट्टइ ॥४१॥

अर्थ—सुश्रावक लोग एक कालमें एक ही युग-प्रधान गुरुको मानते । जिसको तीथकर देवोंने प्रवचनमें गणि-गुरु रूपसे वर्णित किया है । उनके दिव्य मस्तकमें गुण रूप सिंग प्रकटते हैं और जो शासनके कार्योंको सुन्दरतया सम्पन्न करते हैं ॥४१॥

सा छउमत्थु वि जाणइ सव्वइ  
 जिण-गुरु-समझपसाइण भव्वइ  
 चलइ न पाइण तेण जु दिन्हउ  
 जं जि निकाइउ त परि विणद्वउ ॥४२॥

अर्थ—वे युगप्रधान गुरु छवास्थ होते हुए भी कालोचित सभी बातें जानते हैं । जिने-श्वरदेव सद्गुरु महाराज एवं श्रुत ज्ञानके प्रसादसे उनकी देखी हुई या कही हुई यथावस्थित अवस्था प्रायः करके विपरीत नहीं चलती—अर्थात् जैसा कहते हैं वैसा होके रहता है । कदाचित् निकाचित निश्चित रूपसे भोगने योग्य कर्म होता है वह भी नष्ट हो जाता है । युगप्रधान गुरुओंके वचन टलते नहीं ॥४२॥

जिणपवयणभत्तउ जो सक्कु वि तसु  
 पयर्चित करइ बहु व क्कु विजस  
 न कसाइहिं मणु पीडिजजइ  
 तेण सु देविहि वि ईडिजजइ ॥४३॥

अर्थ—उन युगप्रधान गुरुके पदकी चिन्ता जिन शासन भक्त देवेन्द्र महाराज—जो कि देवताई भोगोंमें बहुत ही व्यग्र रहते हैं—वे भी करते हैं—अर्थात् आपत्तिकालमें उसको मिटानेकी चिन्ता करते हैं । जिनका मन कषायोंसे पीड़ित नहीं होता । इसीलिये तो देवता भी उनकी स्तुति करते हैं ।

सुगुरु-आण मणि सइ जसु निवसइ  
 जसु तत्तत्थि चित्त पुणु पविसइ ।  
 जो नाइण कुवि जिणवि न सकइ  
 जो परवाइ-भइण नोसककइ ॥४४॥

अर्थ— जो युगप्रधान गुरु पूर्व सुगुरुओंकी आज्ञाको सदा हृदयमें रखते हैं । तत्त्वार्थ में जिनका चित्त हमेशा प्रविष्ट रहता है । जिनको न्यायमें कोई भी नहीं जीत सकता । जो परवादियोंके भयसे भागते भी नहीं हैं ॥४४॥

जसु चरिद्विण गुणिचित्तु चमक्षइ  
तसु जु न सहइ सु दूरि निलुक्षइ  
जसु परिचित करहिं जे देवय  
तसु समचित्त ति थोवा सेवय ॥४५॥

अर्थ— जिनके अद्भुत चरित्रसे गुणजनोंका चित्त चमत्कृत होते हैं । उनको जो नहीं मानते हैं, ऐसे असहिष्णु लोग दूरसे ही लूप हो जाते हैं । जिनकी विपत्ति आदिमें देवता भी परिचिता करते हैं । उनके समचित्त वाले वे थोड़े ही सेवक होते हैं ॥४५॥

तसु निसि दिवसि चित इह (य) वद्वइ  
कहिं वि ठावि जिणवयणु फिद्वइ  
भूरि भवंता दीसहि वोडा  
जे सु पसंसहि ते परि थोडा ॥४६॥

अर्थ— उन युगप्रधान गुरुके चित्तमें रात दिन यही चिन्ता रहती है कि किसी भी स्थानमें जिन शासनकी हीलना तो नहीं होती ? भटकते हुए बहुतसे मोड़े दीखते हैं पर ऐसे युगप्रधान गुरुकी स्तुति-प्रशंसा करनेवाले बहुत थोड़े ही हैं ॥४६॥

पिच्छहि ते तसु पइ पइ पाणिड  
तसु असंतु दुहु ढोयहिं आणिउं ।  
धम्मपसाइण सां परि छुट्टइ  
सव्वत्थ वि सुहकज्जि पयद्वइ ॥४७॥

अर्थ— वैसे मोड़े-साध्वाभाँस उन युगप्रधान गुरुके पद पदमें छिद्र ढूँढते रहते हैं और बिना हुए दुःखों को उनके लिये ढो-ढो कर लाते हैं । किन्तु धर्मके प्रसादसे वे भली भाँति पीड़ासे दूर रहते हैं । एवं शुभकार्योंमें सदा सर्वत्र प्रवृत्ति करते रहते हैं ॥४७॥

तह विहु ताहि वि सां नवि रुसइ  
खम न सु मिल्लइ नवि ते दूसइ ।

जइ ति वि आवहि तो संभासइ  
जुत्तु तदुत्तु वि निसुणिवि तूसइ ॥४८॥

अर्थ—साध्वाभासोंकी कुचेष्टा होने पर भी वे युगप्रधान गुरु उनके लिये रोक नहीं करते । शक्तिके रहते हुए भी क्षमा को नहीं छोड़ते, और न उन मोड़ोंकी ही दूषित बननेकी चेष्टा करते हैं । अगर वे लोग सामने आते भी हैं तो उनके साथ सम्भाषण करते हैं । उन दुष्टों की कही हुई, योग्य बात को भी सुन खुश होते हैं । अर्थात् युगप्रधान सर्वत्र सम परिणामसे सारग्राही होते हैं ॥४८॥

अप्पु अणप्पु वि न सु बहु मन्नइ ।  
शोवगुणु वि परु पिच्छवि वन्नइ ।  
एइ वि जइ तरंति भवसायरु  
ता अणुवत्तउ निच्चु वि सायरु ॥४९॥

अर्थ—अनल्प गुण वाली भी अपनी आत्मा को जो बहुत नहीं मानते । दूसरेके थोड़े गुण को भी देखकर जो-तारीफ करने लग जाते हैं । वे ऐसा शोचते रहते हैं, कि यदि ये लोग भवसागर पार करें ऐसा मैं हमेशा देखता रहूं तो बड़ा ही अच्छा हो । ऐसे गुरु ही युगप्रधान हो सकते हैं ।

जुगुपहाणु गुरु इउ परि चिंतइ  
तं—मूलि वि तं—मण सु निकिंतइ ।  
लोउ लोयवत्ताणइ भग्गउ  
तासु न दंसणु पिच्छइ नग्गउ ॥५०॥

अर्थ—युगप्रधान गुरु तो इस प्रकार परहित चिंतन करते हैं, और उसके पासमें वर्तमान दुष्ट चित्त वाले व्यक्ति उन्हींके मन को काटते रहते हैं । अर्थात् तन्मूलक ज्ञान-दर्शन चारित्र को भूंठे आक्षेपों द्वारा मलिन बनाते हैं । भोले लोक भी तथाविघ दुष्टात्माओं की बातों को सुनकर भग्न परिणामी होकर उन गुरुदेवके दर्शनसे बंचित रहते हैं, अरे ? अपने आगेके भव को भी नहीं देखते हैं । बाकईमें नंगे दुष्ट आदमी ऐसे ही होते हैं ॥५०॥

इस प्रकार युगप्रधान गुरुके स्वरूप को बताये बाद उनके प्रवाह पतित लोगोंकी बानी बाणी को बताये हैं—

इह गुरु केहि वि लोइहि वन्निउ ।  
तु वि अम्हारइ संधि न मन्निउ ।

अम्हि केम इसु पुठिह लगह !  
अन्निहि जिव किव नियगुरु मिलह ॥५१॥

अथे ये गुरु कितनेक लोकों द्वारा प्रशंसित हैं, परन्तु हमारे संघने इनको नहीं माना, हम केसे इनके पीछे लगें ? दूसरोंके जैसे केसे हम अपने-गुरुको-जैसे तैसे गुरु को भी कैसे छोड़ दें ? ॥५१॥

**पारतंत-विहिविसद्व-विमुक्तउ**

जणु इउ बुल्लइ मगह चुक्तउ ।  
तिणि जणु विहि धम्मिहि सह झगड़ह  
इह परलोइ वि अप्पा रगडह ॥५२॥

अर्थ—सद्गुरुकी परतंत्रता आगमोक्त-विधि साधु श्रावकोंका विषय इनसे अलग लोकप्रवाह पतित जन मार्ग भ्रष्ट होता हुआ इस प्रकारसे उपर कही बातबोलता है एवं इसी लिये विधिधर्मकारी लोगोंके साथ भगड़ता है और इस लोकमें एवं परलोकमें अत्मा को भीर खड़वाना रहता है ॥५२॥

तु वि अविलक्खु विवाउ करंतउ  
किवइ न थक्कइ विहि असहंतउ ।  
जो जिणभासिउ विह सु कि तुझइ ?  
सो झगडंतु लोउ परिफिझइ ॥५३॥

अर्थ—यद्यपि आत्माकी ओर ध्यान नहीं देता है, तो भी अपने निदिच्चत लक्ष्यसे हीन होता हुआ अविवेकी विवाद करते हुए कैसे भी नहीं थकता और विधि को सहन नहीं करता है । तो भी क्या ? वह श्री जिनेश्वरदेव द्वारा फरमाई हुई विधि भूट थोड़े हो सकती है ? हाँ क्लेशको करता हुआ वह प्रवाह पतित जनतो अवश्य फीका पड़ता है । धर्म लाभसे रहित होता है ॥५३॥

दुप्पसहंतु चरणु जं बुत्तउ  
तं विहि विणु किव होइ निरुत्तउ ! ।  
इक्क सूरि इक्का वि स अज्जी  
इक्कु देस जि इक्क वि देसज्जी ॥५४॥

अर्थ—भगवान् ने फरमाया है कि अंतमें श्रीदुष्प्रसहस्रि जी तक चरित्र रहेगा । यह बात विधिके विना कैसे निश्चत हो सकती है ? अंतमें एक दुष्प्रसभ नामके आचार्य होंगे । सत्य श्री नामकी एक आर्या होगी । देशब्रत को धारण करने वाला नागिल नामका एक श्रावक होगा, और फल्गुश्री नामकी एक देशब्रतधारिणी श्राविका होगी ॥५४॥

तह वीरह तु वि तित्थु पयद्वृद्ध  
तं दस-वीसह अज्जु कि तुद्वृद्ध ! ।  
नाण-चरण-दंसणगुणसंठित  
संघु सु वच्चद्वृ जिणिहि जहद्वित ॥५५॥

अर्थ—फिर श्री वीर भगवानका शासन इकड़स हजार वर्ष तक रहेगा । वह क्या दश-वीस वषमें या आज ही टूटता है ? ना । वह तो अविच्छिन्न धारासे चलता रहेगा । हाँ सम्यग्ज्ञान-चरित्र और दर्शन गुणमें संस्थित चतुर्विध श्री संघ को ही तीर्थकर देवो यथाथ रूपसे संघ कहा है । चाहे वह संरूपामें कितना ही हो ॥ ५५ ॥

दव्य-स्वित्त-काल-ठिद्वृ  
गुणि-मच्छ्रु करंतु न निहद्वृ  
गुणविहृणु संघात कहिज्जद्वृ  
लोअपवाहनद्वृ जो निज्जद्वृ ॥५६॥

अर्थ—श्रीभगवानका फरमाया हुआ विधिसंघ द्रव्य क्षेत्र काल स्थितिके अनुसार वर्तता है । गुणवान् पुरुषोंके साथ निश्चत रूप मात्सर्य भाव नहीं रखता । कदाचित् कुकर्मके उदयसे मत्सरता आभी जाय तो उसमें निश्चत नहीं होता । उस को संघ कहते हैं । परन्तु जो लोक प्रवाह रूप नहींमें वहता है एवं उचित गुणोंसे हीन है वह 'संघात' कहा जा सकता है । जैन शासनमें संघकी भारी वर्णना है ॥ ५६ ॥

जुत्ताजुत्तु वियारु न रुच्चद्वृ  
जसु जं भावद्वृ तं तिण वुच्चद्वृ ।  
अविवे इहिं सु वि संघ भणिज्जद्वृ  
परं गीयत्यिहिं किव मन्निज्जद्वृ ॥५७॥

अर्थ—जिसको योग्यायोग्य विचारका भी रूपाल नहीं है । जिसको जो मनमें भासा है वही वह बोल देता है, अविवेकी आदमी ही ऐसे टोले को संघ कहते हैं, परन्तु गीतार्थ लोग ऐसे संघको कैसे मानें ॥ ५७ ॥

विणु कारणि सिद्धंति निसिद्धउ<sup>१</sup>  
 वंदणाइकरणु वि जु पसिद्धउ ।  
 तसु गीयत्य केम कारण विणु  
 पइदिणु मिलहिं करहिं पयवंदणु ? ॥५८॥

अर्थ—सिद्धान्तमें विना कारण साध्वाभासों को वंदन करना आदि प्रसिद्ध रूपसे निषिद्ध किया हुआ है। उनके साथ गीतार्थ लोग अकारण कैसे मिलें? और कैसे पदबंदन आदि करें? अर्थात् नहीं करना चाहिये ॥ ५८ ॥

जो असंघु सो संघु पयासइ  
 जु जिज संघु तसु दूरिण नासइ ।  
 जिव रायंध जुवइदेहं गिहिं  
 चंद कुंद अणहुंति वि लक्खवहिं ॥५९॥

अर्थ—प्रवाह पतित जन जो संघ गुणसे हीन असंघ टोला मात्र है। उसको संघ रूप से प्रकाशित करता है और जो गुण संपन्न संघ है उससे दूर भागता है जिस प्रकार रागाध लोग युवती शियोंके शरीर अन्त-नहीं होने वाले (मुखको) चन्द्र कुंद आदि को लक्षित-कल्पित करलेते हैं, वैसे ही गुण हीन टोलेमें असम्यकचीं लोग संघकी कल्पना करते हैं ॥ ५९ ॥

तिव दंसण रायंध निरिक्खहि  
 जं न अत्थि तं वत्थु-विवक्खहि ।  
 ते विवरियदिष्टि मिवसु करवइ  
 पावहि सुमिणि वि कह पच्चक्खइ ॥६०॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शन-रागमें अन्ये अतत्पक्षपाती लोग जो चीज नहीं है उस वस्तु को देखते हैं, और उसकी व्याख्या भी करते हैं। ऐसे विपरीत हृषि वाले वे लोग प्रत्यक्ष तो दूरमें भी प्रख्यात शिव सुखको कैसे पासकरते हैं। सर्वथा नहीं ॥ ६० ॥

दम्म लिति साहम्मिय-संतिय  
 अवरुप्परु झगडंति न दिति य ।  
 ते विहिधम्मह खिस महंति य  
 लोयमज्जि झगडंति करंति य ॥६१॥

श्रावकों को गृहस्थोचित शिक्षा बताते हैं—

अर्थ—जो श्रावक साध्मिकोंसे कार्यवशात् द्रव्य लेते हैं। वापस देते नहीं और परस्पर भगतेड़ हैं। वे लोग विधि धर्मकी, लोगमें भगड़ते हुए बड़ी भारी ग्रीसणा-निंदा को करते हैं ॥ ६१ ॥

जिणपवयण-अपभावण वड्डी  
तउ सम्मत्तह वत्त वि बुड्डी ।  
जुत्तिहि देवदव्वु तं भजजइ  
हुंतउं मगगइ तो वि न दिजजइ ॥६२॥

अर्थ—कर्जदार का कर्ज न चुकाने पर और भगड़ने पर श्री जिनशासनकी महत्तों अप्रभवानं होती है फिर उस हालतमें सम्मत्वकी बात तो मानो ढूब ही जाती है। ऐसा करने वाला श्रावक परंपरासे देव द्रव्यका नाश करने वाला होता है। क्योंकि श्रावकका धन कालांतरमें सात क्षेत्रोंमें लगता है। लेकिन कर्ज न चुकाने वैसा अवसर आने नहीं देता अतः वह देवद्रव्यका भल्कुकमाना जाता है। जो कि अपने पास धनके होने पर भी-कर्जदार का कर्ज नहीं चुकाता ॥ ६२ ॥

बेट्टा बेट्टी परिणाविजजहिं  
ते वि समाणधम्म-घरि दिजजहिं ।  
बिसमधम्म-घरि जइ वीवाहइ  
तो सम ( म्म ) तु सु निच्छइ वाहइ ॥६३॥

अर्थ—गृहस्थ लोग बेटा बेटी समान कुल शील बालोंके साथ व्याहते हैं। श्रावकों को चाहिये कि समान धर्म वाले को लड़की दें। विषम-दूसरे धर्मवालेसे अगर विवाह किया जाता है तो उससे निश्चय करके सम्यक्त्वमें बाधा पहुंचती है ॥ ६३ ॥

थोड़इ धणि संसारियकजजइ  
साहिजजइ सव्वइ सावजजइ ।  
विहिधमत्थि अत्थु विविजजइ  
जेण सुअप्पु निव्वइ निजजइ ॥६४॥

अर्थ—श्रावकों को चाहिये कि संसार संबंधी सारे सावध सपाप कार्य थोड़े धन को खर्च करके संपन्न करने चाहिये। विधि धर्म-जिन पूजा-संघपूजादि असावध-अपाप कार्यमें धन को अधिक खर्च करना चाहिये, जिससे कि आत्मा निवृत्ति मुक्तिमें पहुंचाया जा सके ॥ ६४ ॥

सावय वसहिं जेहिं किर ठावहिं  
 साहुणि साहु तित्थु जइ आवहिं ।  
 भत्त वथ्य फासुय जल आसण  
 वसहिं वि दिंति य पावपणासण ॥६५॥

अर्थ—श्रावक लोग जिन गांव नगरोंमें निवास करते हैं, वहां यदि साधु साध्वी विहार करते हुए आवं तो उनको प्रासुक आहार पानी बन्ध पात्र आसन आदि देने चाहिये । एवं रहनेके लिये वसति-स्थान भी देना चाहिये जिनसे कि पापोंका नाश और धर्मका भला होता है ॥ ६५ ॥

जइ ति वि कालुच्चिय-गुणि बट्ठहिं  
 अप्पा परु वि धरहि विहिवट्ठहिं ।  
 जिण-गुरुवेयावच्चु करेवउ  
 इउ सिद्धंतिउ वयणु संवउ ॥६६॥

अर्थ—अगर वे साधु-साध्वी लोग भी कोलोचित गुणोंमें—संयम साधनामें वर्तमान हैं । आत्मा को और दूसरों को जो विधि मार्गमें स्थापित करते हैं, तो जिनदेव और गुरुओंकी वेयावच्च करनी चाहिये । इस सिद्धांत वचन को याद करना चाहिये ॥ ६६ ॥

घणमाणुसु कुटुंबु निव्वाहइ  
 धम्मवार पर हिठउ वाहइ ।  
 तिणि सम्मत्त-जलंजलि दिन्नी  
 तसु भवभमणि न मइ निव्विन्नी ॥६७॥

अर्थ—जो गृहस्थ बहु परिवारी कुटुंबका भलो भांती निर्वाह करता है और धर्मके मौके पर नीचे देखने लग जाता है वह सम्यक्त्व को जलाञ्जलि देता है, और माना जाता कि उककी बुद्धि भव भ्रमणसे खिल्न नहीं हुई ॥६७॥

सधणु सजाइ जु जितसु भत्तुउ  
 अन्नह सद्दिठ्ठिहि वि विरत्तउ ।  
 जे जिणसासणि हुंति पवन्न  
 सवि बंधव नेहपवन्ना ॥६८॥

अर्थ—जो श्रावक धन वालेकी एवं स्वजातीकी ही भक्ति करना है और दूसरे समान

धर्म सम्यक्त्वीसे भी विरक्ति रखता है । यह एकदम अयोग्य बात है । जो जिनशासन को मानते हैं वे सभी श्नेह पानमें बद्ध परस्परमें अविशेष भावसे भाई ही हैं । अतः समान धर्म बालोंमें भेदभाव करना सर्वथा वे ठीक है ॥ ६८ ॥

तसु संमतु होइ किव मुद्धह ?  
जो नवि वयणि विलगगइ बुद्धह ।  
तिनि च्यारि छुत्तिदिण रक्खइ  
स जिं सरावी लगगइ लिक्खइ ॥६९॥

अर्थ—जो श्रावक साधार्मि बन्धुओंमें भेद भाव रखता है उस मुग्धात्माके सम्यक्त्व कैसे हो सकता है ? जो तीर्थकरदेव-गीतार्थ गुरु आदिके पुनित बचनोंमें मन को लगता ? वही श्राविका-श्राविकाओंकी गिनती में आने योग्य होतो है, जो पूरे तीन एवं चार दिन खी की धर्म छूत को रखती है ॥६६ ॥

हुंति य छुत्ति जल (पव) टृइ सेच्छइ  
सा घर-धम्मह आवइ निच्छइ ।  
छुत्तिभग्ग घर छहुइं देवय  
सासणसर मिल्लहिं विहिसेवय ॥७०॥

अर्थ—जो खी रजस्वलाकी छूतके रहते हुए भी स्वेच्छासे घर काममें एवं धर्ममें लगी रहती है वह खी निश्चय करके उस घर और धर्मके एक बड़ी भारी आपत्तिके समान हो जाती है । क्यों छूत को तोड़नेसे घर को विधि धर्मके सेवक शासन देव छोड़ देते हैं और भूतप्रेतोंसे घर भर जाता है अतः घर भी नष्ट प्राय हो जाता है ॥ ७० ॥

पडिकमणइ वंदणइ आउल्ली  
चित्त धरंति करेइ अमुल्ली ।  
मणह मज्जि नवकारु विज्ञायइ  
तासु सुहु समतु वि रायइ ॥७१॥

अर्थ—जो रजस्वला खी प्रतिक्रमणमें बंदनमें सूद्ध अक्षरोंका उच्चारण नहीं करती है । असंदिग्ध भावसे चित्तमें ही धारण करती है । मनमें ही नवकर मंत्रका ध्यान भी करती है उनमें सम्यक्त्व भी सुन्दर रूपसे शोभता है ॥ ७१ ॥

सावउ सावयछिद्दइं मग्गइ  
तिणि सहु जुज्ज्वइ धणबलि वग्गइ ।

अलिउ वि अप्पाणउं सच्चावइ  
सो समत्तु न केमइ पावइ ॥७२॥

अर्थ—श्रावक-श्राविकाके छिद्रों को ढूँढ़े, उसके साथ लड़े, धनबलसे राजदरवार चढ़े, भूठे भी आत्मा को सच्चा बनाने, वह सम्यक्त्व को किसी भी तरह नहीं पा सकता है ७२॥

विकियबयणु युल्लइ नवि मिल्लइ  
पर पभणंतु वि सच्चउं पिल्लइ ।  
अटु मयटाणिंदि वट्टंतउ<sup>१</sup>  
सो सद्विष्टि न होइ न संतउ ॥ ७३ ॥

अर्थ जो गृहस्थ विकृत—गाली गलौज आदि दुर्वचनोंको ही बोलता है। सच बोलनेवाले को भी दूसरेको जो नहीं छोड़ता है, और पीड़ा पहुंचाता है। आठ मदस्थानको वर्तता हुआ वह सम्यक्टृप्ति नहीं होता। कदाचित् हो जाता है तो सम्यक्त्व चिरस्थाई नहीं रहता। अथवा वह भले आदमियोंकी कोटिमें नहीं रहता ॥७३॥

पर अणिथि घल्लंतु न संकइ  
परधण-धणिय जु लेयण धंखइ ।  
अहियपरिगगह—पावपसत्तउ  
सो संभान्तिण दूरिण चत्तउ ॥७४॥

अर्थ जो दूसरे को अनर्थमें डालते हुए शंका नहीं करता है। जो परधन और परम्पराको अपनानेकी इच्छा रखता है। जो अधिकतया परिग्रहको पापमें लगा रहता है। उसको सम्यक्त्व भी दूरसे ही त्याग देता है ॥७४॥

जो सिद्धंत्तियजुन्तिहि नियघरु  
वाहि न जाणइ करइ विसंवरु ।  
कु वि केणइ कसायपूरियमणु  
वसइ कुटुम्बि जं माणुसधणु ॥७५॥

अर्थ—जो गृहस्थ सैद्धान्तिक युक्तियोंसे-गृहस्थोचित गुणोंसे अपने घरको चलाना नहीं जानते, वे अपने गृहस्थ धर्मको विसंथुल-अमर्यादित-क्लेशमय बनादेते हैं। क्योंकि घरमें मनुष्योंवाले कुटुम्बमें कोइ किसी कारणसे क्रोध-मान-माया-लोभ इन कषायोंसे भर

जाता है। अगर गुहपति ठीक हो तो उनको भी निभालेता है और जीवन क्लेशमय नहीं होने देता है ॥७५॥

तसु सरूपु मुणि अणुवत्तिज्जद्  
कु वि दाणिण कु वि वयणिण लिज्जद् ।  
कुवि भएण करि पाणु धरिज्जद्  
सगुणु जिटु सो पइ ठाविज्जद् ॥७६॥

अर्थ—गृही जिवनको सुखमय रखनेके लिये यह जरूरी है कि उन कुटुम्बियोंके स्वरूपको भली-भाँती जानकर उनके साथ अनुवत्तन-व्यवहार करना चाहिये। किसीको कुछ देकर, किसीको कुछ बचन सुनाकर, किसीको कुछ भय दिखाकर, किसीको मर्यादित बलात्कारसे भी शांत बनाना चाहिये। कुटुम्ब में जो अधिक गुणवान हों विवेकी हों उनको ज्येष्ठ पद पर यानि—हरेक काममें लेने देने योग्य-स्थापित करदेनां चाहिये ॥७६॥

जुद्धह धिट्ठह न य पत्तिज्जद्  
जो असत्तु तसुवरि दइ किज्जद् ।  
अप्पा परह न लक्खाविज्जद्  
नप्पा विणु कारणि खाविज्जद् ॥७७॥

अर्थ—झूँठ बोलनेवाले और धींठ व्यक्तियोंका विश्वास नहीं करना चाहिये। जो असमर्थ हैं उनपर दया करनी चाहिये। शोकके कारणोंके उपस्थित हो जानेपर चेहरे पर वे भाव आने देने न चाहिये। बिना कारण-बिना विशेष लाभके राजकर्म-चारियोंसे संबन्ध नहीं रखना चाहिये। क्योंकि ऐसे सम्बन्धोंके साथ काफी प्रपञ्च बढ़ जाते हैं ॥७७॥

माय-पियर ज धम्म विभिन्ना  
ति वि अणुवित्तिय हुंति ति धन्ना ।  
जे किर हुंति दीहसंसारिय  
ते बुल्लंत न नंति निवारिय ॥७८॥

अर्थ—जो माता पिता अन्य धर्मको मानते हैं, यदि वे विधि मार्गके अभिमुख ही जांय तो धन्य हैं। यदि कदाचित् दीर्घ संसारी भावके कारण विधिमार्गसे विपरीत बाँतें बोलते हुए रोकने पर भी नहीं रुकते हैं तो उनपर क्रोध नहीं लाना चाहिये ॥७८॥

ताहि र्वि कारइ इह अणुवत्तण  
भोयण-वत्थ—पयाण पर्यत्तिण ।



श्री जिन दत्त सूरि विरचितम्

## ॥ कालस्वरूपकुलकम् ॥

पणमवि वद्माणु जिणवल्लहु  
परमप्पयलच्छिहिं जिणवल्लहु ।  
सुगुरुवएमु देमि हउ भव्वह  
सुकखह कारणु हाइ जु सव्वह ॥१॥

अर्थ—अवधि जिनादिकोंके बलभ, परमपद-मोक्ष लक्ष्मीके विजयी स्वामी श्री जिनवल्लभ वर्द्धमान-भगवान महावीर देवको प्रणाम करके, महोपकारी परम गुरु श्री जिन-बलभ सूरीन्द्रवरजी महाराजको प्रणाम करके सद्गुरु महाराजका बताया हुआ उपदेश भव्यात्माओंको देता हूं। जो सबके सुखका कारण होता है।

मीण सणिच्छरंभि संकंतइ  
मेसि जंति पुण वक्कु करंतइ ।  
देस भग्ग परचक्क पद्मट्टा  
वड वड पट्टण ते पब्भट्टा ॥२॥

अर्थ—मीन राशिमें शनिश्चरके संक्रान्त होनेपर और फिर मेष राशिमें जाते हुए वक्रता करने पर वडे २ देश नष्ट हो गये। पर चक्रोंका उपद्रव वढ गया। वडे २ शहर जो थे वे भी नष्ट हो गये ॥२॥

विक्रमसंवच्छरि सय बारह  
हुयइ पणट्टउ सुहु घर बारह ।  
इह (य) संसारि सहाविण संतिहि  
वत्तहि सुम्मइ सुकखु वसंतिहि ॥३॥

अर्थ—विक्रम संवत बारहसो के करीब ऐसा काल आया कि घरके दरबाजोंसे सुख मानों भाग ही गया। इस प्रकारके संसारी स्वरूपके होनेसे सज्जन पुरुषोंकी बातोंसे ह सुख संसारियों को सुनने को मिलता है ॥३॥

तह वि वत्त नवि पुच्छहि धम्मह  
जिण गुरु मिल्लहि कज्जिण दम्मह ।  
फसु नवि पावहि माणुसजम्मह  
दूरि होंति ति जि सिवसम्मह ॥४॥

अर्थ—इस प्रकारके संसार स्वरूपके होनेपर भी धर्मकी खात भी कोई नहीं पूछाता है । द्रव्यके लिये देव और गुरुको भी लोग छोड़ देते हैं । मनुष्य जन्मके फलको नहीं पाते हैं । और मोक्ष सुखसे भी वे लोग दूर हो जाते हैं ॥४॥

मोहनिद जणु सुत्त न जग्गइ  
तिण उट्ठिवि सिवमग्ग न लग्गइ ।  
जइ सुहत्थु कुवि गुरु जग्गावइ  
तु वि तव्वयणु तासु नवि भावइ ॥५॥

अर्थ—मनुष्य मोह निद्रासे सोता हुआ नहीं जागता है । इसी लिये उठ करके मोक्ष-मार्गमें भी नहीं लगता है । यदि सुखके लिये या शुभ-हितके लिये कोई सुगुरु जगाते हैं, तो भी उनके वचन उसको नहीं स्वचते हैं । है यह मोह की लीला ॥५॥

परमत्थिण तं सुत्त वि जग्गहि  
सुगुरु-वयणि जे उट्ठेवि लग्गहि ।  
राग द्वोस मोह वि जे गंजहि  
सिद्धि-पुरंधि ति निच्छइ भुंजहि ॥६॥

अर्थ—सद्गुरु महाराजके वचनोंको सुनकर सुविधिमार्ग में जो मनुष्य लगते हैं वे परमार्थसे द्रव्य निद्रासे सोते हुए भी जगते हैं । राग द्वेष और मोह को वे जीतते हैं । एवं निश्चय करके वे सिद्धि सुन्दरी को भोगते हैं ॥६॥

बहु य लोय लुंचियसिर दीसहिं  
पर राग-द्वोसिहिं सहुँ विलसहिं ।  
पढ़हिं गुणहिं सत्थइ वक्खाणहि  
परि परमत्थु तित्थु सु न जाणहि ॥७॥

अर्थ—बहुतसे लोग लुञ्चित-मुण्डित सिर वाले साध्वाभास दिखाई देते हैं । परन्तु राग द्वेषके साथ उनकी चेष्टायें दोखती हैं । वे लोग शास्त्रोंको पढ़ते हैं, गुणते हैं, व्याख्यान करते हैं । परन्तु उनमें रहे हुए परमार्थ—सत्तत्वको सचारित्रके अभावमें नहीं जानते हैं ॥७॥

तिणि वेसिणि ते चारि रिहिल्लिउ  
 मुसहि लोउ उम्मगिण घल्लिउ ।  
 ताहं पमत्तउ किवइ न छुट्टइ  
 जो जगड़ि मद्दम्मि मु बद्दइ ॥८॥

अर्थ— उस उस साधु वेषसे वे चोरोंका सा व्यवहार करते हैं। लोगोंको ठगते हैं, और उन्मार्गमें ढाल देते हैं। उन लिंगधारियोंसे भोला भाला-प्रमत्त संसारी प्राणी वह किसी प्रकारसे नहीं छूट सकता। जो ऐसे लोगोंसे सजन-सावधान रहता है, वही विधि मार्ग रूप सद्धर्ममें प्रवृत्ति करता है ॥८॥

ते वि चारि गुरु किया सुबुद्धिहि  
 सिववहुसंगममुहरसलुद्धिहि ।  
 ताहि वि खावहि अप्प-उपासह  
 छुट्टइ कह वि न जिव भवपासह ॥९॥

अर्थ— शिवसुन्दरीके संगम सुखके रसमें लुध मुग्धात्माओंने अविवेक पूर्ण अपनी बुद्धिसे उन भाव चोरोंको भी गुरु किये हैं। उन उपासकों को भी वे कुगुरु लोग स्वार्थ साधना करते हुए इस प्रकार खाते हैं कि वे संसारी जंजालसे किसी भी तरहसे बिचारे छूटते नहीं हैं ॥९॥

दुद्धु हाइ गो-र्यक्षिहि धबलउ  
 पर पेजंतइ अंतरु बहलउ ।  
 एककु सरीरि सुकखु संपाड़इ  
 अवरु पियउ पुणु मंसु वि साड़इ ॥१०॥

अर्थ— गायका दूध और आकड़ेका दूध ये दोनों ही होते तो सफेद ही हैं। परन्तु पीने पर इनमें बड़ा भारी अंतर दीखता है। गायका दूध तो शरीरमें सुख पुष्टि पैदा करता है, तो दूसरा आकड़ेका दूध पीने पर मांसको ही—सारे शरीरको सड़ा देता है ॥१०॥

कुगुरु सुगुरु सम दीसहि बाहिरि  
 परि जो कुगुरु सु अंतरु वाहि रि ? ।  
 जो तसु अंतरु करइ वियव्खणु  
 सो परमप्पउ लहइ सुलव्खणु ॥११॥

अर्थ कुगुरु और सुगुरु भी वाहिरसे-उपरसे समान रूप ही दीखते हैं । परन्तु अरे भोले प्राणी कुगुरु तो अंदरनी—भीतरी व्याधि है जो उपर नहीं दीखती । जो विचक्षण कुगुरु-सुगुरु इन दोनोंमें जुदाई कर देता है वह शुभ लक्षण संपन्न भव्यात्मा परम पदको पाता है ॥११॥

जो धन्त्रयफुल्लु समुज्जलु  
पित्तिवि लग्गउ तित्थु समुज्जलु ।  
जइ सो तसु रसु पियणह इच्छह  
ता जगु सब्बु वि सुन्नउ पिच्छह ॥१२॥

अर्थ - धतुरेके फूलको समुज्ज्वल देखकर जो जडात्मा समुद खुश होकर उसमें लगता है । एवं यदि उसके रसको पीना चाहता है पीना है, तो सारा जगत ही उसको शून्यसा या सोनेका सा दीखता है । धतुरेके फूलके जैसे कुगुरु भी उपरसे अच्छे दीखते हैं परन्तु परिणाममें भयंकर होते हैं ॥१२॥

इय मणुयत्तु सुदुल्लहु लद्धउ  
कुल-बल-जाइ-गुणेहिं समिद्धउ ।  
दस दिहंत इथ किर दिना  
इहु निष्फलु ता नेहु म धन्ना ॥१३॥

अर्थ - कुल बल जाति एवं गुणोंसे समृद्ध यह मनुष्यत्व वडे दुःखसे मिला है । इसके लिये शास्त्रोंमें दश दृष्टान्त भी बताये हैं । ऐसे दश दृष्टान्तोंसे भी दुलभ इस मनुष्य जन्मको हे धन्यात्माओं ! निषफल मत बनाओ ॥१३॥

लद्धि नरत्ति अणारियदेसेहिं  
को गुणु तह विणु सुगुरुवएसिहि !  
आरिथदेस जाइ-कुलजुत्तउ  
काइ करेइ नरत्तु वि पत्तउ ॥१४॥

अर्थ - अनार्य देशमें सदगुरु महाराजके पवित्र उपदेशोंके बिना पाया हुआ भी मनुष्य जन्म क्यों गुण कर सकता है ? कुछ फी नहीं । आर्य देशमें अच्छी जाति एवं कुलके संपन्न भी मिला हुआ नर जन्म क्या कायदादायक हो सकता है ॥१४॥

जहि किर आउ होइ संखित्तउ  
तित्थु न कज्जु पसाहइ वुत्तउ ।

तं पि बहुत्तु होइ जइ पुनिहि  
जित्थु गुरुत्तु सुणिज्जइ कंनिहि ॥१५॥

अर्थ—जिस नर जन्ममें आयुष्य संक्षिप्त-थोड़ा हो, उसमें श्री जिनेश्वर देवों द्वारा करमाये हुए ज्ञानदर्शन चारित्र आदि कार्यों की साधना नहीं हो सकती। उस जन्मसे भी क्या ? हां यदि वह आयुष्य पुन्यसे बढ़ा हो, और उसमें सद्गुरुके फरमाये उपदेश कानोंसे हुने जाय ॥१५॥

सद्हाणु तव्वयणु सुणंतह  
विरला कसु वि होइ गुणवंतह ।  
पढ़हिं गुणहिं सिद्धेतु बहुत्तइ  
सद्हाणु पर नत्थि जिणोन्तइ ॥१६॥

अर्थ—श्री सद्गुरुके उपदेशको मुनते हुए भी किसी विरले गुणवानको ही उसपर हृष्ट श्रद्धा होती है। बहुत लोग ऐसे हैं जो पढ़ते हैं, गुणते हैं, परन्तु श्री वचनोंमें उनकी श्रद्धा नहीं होती ॥१६॥

अविहि पयद्वहि विहिपरु दूसहि  
पडिउ पवाहि लोउ सु पसंसहि ।  
अणुसोयह पडिसोयह अंतरु  
न कुणहि खवणय जेव निरंतरु ॥१७॥

अर्थ—अविधिसे प्रवृत्ति करते हैं। विधि करने वालोंको दूषित करते हैं। प्रवाह पतित लोगोंकी प्रशंसा करते हैं। अनुश्रोत और प्रतिश्रोतका भेद नहीं करते हैं। किन्तु क्षणिक के-नंगाके जैसे विशेषताके अभावको करते हैं अर्थात् सबको एक भाव समझते हैं ॥१७॥

करिवि जिणोन्ति धम्मि जण लग्गा  
दूरिणी जंति सुगुरु सुइभग्गा ।  
विहिपह—पक्खइ जिणु मुर्णि वंदहि  
तं मग्गद्विउ जणु अहिणंदहि ॥१८॥

अर्थ—कई मन्दबुद्धिवाले अविधि क्रियाको भी यह जिनोक्त धर्म है ऐसा करके उसमें लगते हैं। सद्गुरुके उपदेश श्रवणसे दूर भागते हैं। विधि पक्षको छोड़ अविधि चैत्य और अविधि प्रवर्तक नामधारी मुनियों को बंदते हैं। एवं अविधिमार्ग स्थित लोगोंका अभिनंदन करते हैं ॥१८॥

जमणाययु जिणेहि निदंसित  
तं वंदहि वहुलोयनमंसित ।  
जे रथणित्थि लोय ते थोवा  
अइसउ न मुणवि अंतरु धोवा ॥१९॥

अर्थ— तीर्थकर देवोंने जो अनायतन बताया है, उसको बहुतलोक नमस्कार करते हैं अनायतको बंदन करते हैं। ठीक ही है रत्नोंके अर्थी— प्राहक थोड़े ही होते हैं। रत्नोंके और पत्थरके अन्तरको मूर्खलोग नहीं जान सकते हैं ॥१९॥

पारतंतु विहिविसउ न बुज्जहि  
जो परियाणइ तिणि सहु जुज्जहिं ।  
सो भसमगगहगहिउ निरुतउ  
दसमच्छेरएण सो भुतउ ॥२०॥

अर्थ— पारतंत्र विधि और विषयको जो नहीं जानता है। एवं जो जानता है उसके साथ वह लडता है। वह भस्मनामके कुम्रहसे निश्चय करके प्रस्त हुवा हुआ है, अथवा दशमाश्चर्यसे—असंयति पूजा रूपसे भोगा गया है ॥२०॥

अहह ! हुँड अवसप्पिणि दुही  
जह असंजयपूँ यथड्ही  
तासु वि दूसम जाय सहाइणि  
जव्वस ह्रय पय पावह भाइणि ॥२१॥

अर्थ—हा इति देखे ? यह हुंडा अवसप्पिणी काल बड़ा दुष्ट है। जिसमें कि असंयति-असाधुओंकी पूजा-मानता घुस रही है। उसके भी यह पांचवां आरा-दुष्षम काल सहायक हो रहा है। जिसके प्रभाव से प्रजा पाप को भजने वाली हो रही है ॥२१॥

तह वि जहन्न वीस जा विर्हि  
ताण पयट्ह गुणह गर्हि ।  
तासु अंति संवच्छर जि हुया  
खउ पाविय पय पुणतहिं बहुया ॥२२॥

अर्थ— उसमें जो जघन्य वीसी है वह भी विरुद्ध हो रही है। गुणों की बड़ी भारी प्रतिष्ठा भी उनमें नष्ट हो रही है। उस जघन्य विशाति के अंत में जो संवत्सर-बर्ष आये उन में भी बहुत प्रजा का क्षय हुआ ॥२२॥

ईसर धम्म—पमत्त जि अच्छहि  
पाउ करेवि ति कुगइहिं गच्छहिं ।  
धम्मिय धम्मु करंति जि मरिसिहि  
ते सुहु सयलु मणिच्छित लहिसिहिं ॥२३॥

अर्थ—ऐश्वर्य संपन्न लोग जो धर्म में प्रमादी रहते हैं वे पाप को कर के कुगति में जाते हैं । धार्मिक लोग जो धर्म करते हुए मरेंगे वे मनचाहे समस्त सुखों को पायेंगे ॥२३॥

पुन्नवंत विहिधम्मि जि लगगहिं  
ते परमत्थिण जीवहि जगगहिं ।  
अप्पु समप्पहि ते न पमायह  
इह—परलोइ वि विहियावायह ॥२४॥

अर्थ—जो पुण्यवान् होते हैं वे विधि-धर्म में लगते हैं । वे मर कर के भी परमार्थ से जग में जीते हैं और जागते हैं । वे लोग इस लोक और पर लोक में दुःख देनेवाले प्रमाद के आधीन आत्मा को नहीं सौंपते हैं ॥२४॥

तुम्हह इहु पहु चाहिलि दंसिउ  
हियइ बहुत्तु खरउ वीमंसिउ ।  
इत्थु करेज्जहु तुम्हि सयायरु  
लीलइ जिव तरेहु भवसायरु ॥२५॥

अर्थ—तुम लोगों को यही मार्ग तुम्हारे पिता चाहिल ने हृदय में भली भाँति शोच कर दिखाया है । इस लिये तुम लोग हमेशा इसी मार्ग में चलने की भावना रखो । जिस से कि संसार समुद्र को तुम लोग लीला मात्र में तिरोगे ॥२५॥ (१)

जहिं घरि बंधु जुय जुय दीसइं  
तं घरु पडइ बहंतु न दीसइ ।

—१ अणहिल पुर पाटन में चाहिल नाम का एक श्रावक था । जिस ने परीक्षा पूर्वक प्रभु श्रीजिन-दत्तसूरि जी महाराज को धर्माचार्य रूप से स्वीकारे थे । उनके चार बेटे यशोदेव-आभु-आसिंग और संभव नाम के थे । काल दोष से वे जुदा होना चाहते थे । चाहिल ने उस में गुण नहीं देखते हुए गुरु महाराज को पुत्रों को शिक्षा दिलाने को इच्छा से विनतो पत्र भेजा जिस के जवाब में यह कुलक धर्म देशना गमित लेख उन्होंने भेजा था । जिसको पढ़ कर चाहिल शेठ के चारों पुत्र प्रसन्नता के साथ संप से रहे बंडे, और विधि मार्ग को आराधना करते रहे ।

व्याख्याकारः—

जं दृढवंधु गेहु तं वलियउ  
जडि भिज्जंतउ सेसउ गलिउ ॥२६॥

अर्थ—जिस घर में भाई लोग जूदे २ दोखते हैं वह घर कुल-परंपरा से अव्यच्छन्न रूप से वहता हुआ नहाँ दोखता बलिक गिरा हुआ दोखता है। जिस घर में दृढ़ स्नेह वाले बंधु-भाई लोग रहते हैं वह घर बलवान्-टिकाऊ माना जाता है। अगर किसी जड़-मूर्ख व्यक्ति द्वारा भिन्न-हो जाय तो चाकोका सारा घर गल-बिन्न भिन्न हो जातो है। दूसरे पक्ष में-जिस घर में बन्ध टूटे से दीखते हैं वह घर गिर जाता है। जिस में दृढ़ बन्धन होते हैं वह टिकाऊ होता है। जड़-जल से भेद होने पर गल जाता है ॥२६॥

कज्जउ करइ बुहारी बद्धी  
सोहइ गेहु करेइ समिद्धी ।  
जइ पुण सा वि जुयं जुय किज्जइ  
ता किं कज्ज तीए साहिज्जइ ॥२७॥

अर्थ—बंधी हुई बुहारी कचरे को इकट्ठा कर देती है। घरको साफ-शुद्ध और समृद्ध बना देती है। यदि वह जुदी जुदी की जाय तो उस से क्या काम सिद्ध हो सकता है! कुछ भी नहीं। यही हालत कुटुम्ब की है। संगठित होने पर सभी काम सिद्ध होते हैं और जुदा-२ हो जाने पर सारी कमजोरियाँ आ जाती है ॥२७॥

पुणवसु हत्थि चडइ सो चित्तह  
सोमु सूरु पुत्तु वि मावित्तह ।  
जाँ किर चित्तह मङ्गि न पविसइ  
जेठह मूलि सु कहि किव होसइ ॥२८॥

अर्थ—जो सौम्य-प्रशान्त और शूर-तेजस्वी प्रकृति वाला पुत्र अपने विनय गुण से माता पिता आदि सभी के चित्तों में स्थान पा लेता है उसके हाथ में संपत्ति आती है। जो अपने गुणों से लोगों के चित्त में प्रवेश नहीं करता वह ज्येष्ठमूल-बड़े पद का अधिकारी कहो कैसे हो सकता है!। दूसरा अर्थ भी निकलता है पुर्णवसु, हस्त, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, मूल ये नक्षत्र हैं।

सोम-चन्द्र-सूर-रवि, सोमपुत्र-बुध और रवि पुत्र शनि, ये ग्रह हैं। नक्षत्रों के साथ ग्रहों का सम्बन्ध क्रम से होता है अक्रम से नहीं। इसी प्रकार पुरुष भी उत्तरोत्तर संपत्ति को पाते हुए ज्येष्ठमूल-बड़े आदमी बन जाते हैं। एकदम नहीं ॥२८॥

लोहिण जडिउ जु पोउ फुट्टइ  
 चुंबुकु जहि पहाणु किव बट्टइ ! |  
 नेय समुद्दह पारु सु पावइ  
 अंतराल तसु आवय आवइ ॥२९॥

अर्थ—जिस समुद्रमें लोह चुंबक पापाण पड़े हुए हों उसमें लोह जडित जहाज केसे चल सकता है, वह तो फूटता ही है। समुद्र पार वह नहीं पहुंचता बीच में ही उसके लिये तो आपत्ती—सर्वनाश की घड़ी आ जाती है। इसी प्रकार जो गृहस्थ लोभसे जड़ीभूत हो जाता है—वह संसारके चुंबक प्रलोभनों में पड़कर सुखमय जिन्दगी नहीं बितासकता उको बीचमें ही आपत्तियां आ घेरती है ॥२९॥

लोहिण रहिउ पोउ गुरुसायरु  
 दीसइ तरंतु जइ वि जडवायरु ।  
 लाहउ करइ सु पारु वि पावइ  
 वाणियाह धणरिद्धि वि दावइ ॥३०॥

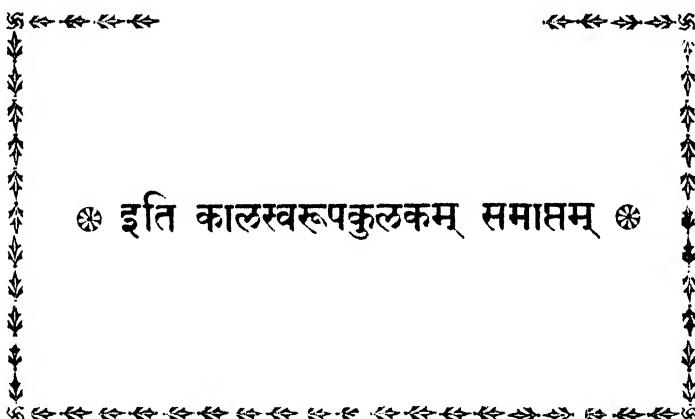
अर्थ—लोह रहित जहाज वडे भारी समुद्रको पार करता हुआ दीखता है। यद्यपि उसमें जल-वायु अधिक हो तो भी जहाज-लाभ संपन्न भी होता है और, पार भी पाता है। एवं बनियों की धन सपत्ति को भी दिखाता है। दूसरे पक्ष में—लोभरहित व्यक्ति गुरुओंके प्रति आदर सहित भाव वाला होता हुआ संसार समुद्र से तैरता हुआ दीखता है। यद्यपि जडवादी लोक अधिक होने पर भी अपनी धूनमें पक्का रहता है। वह व्यापारादि से लाभ भी पाता है और उसका उपयोग दानादि में करता हुआ पार भी पाता है तथा, व्यापारियों की धन मूद्दि रीति—नीतिको भी दीखता है ॥३०॥

जो जणु सुहुगुरु—दिट्ठिहि दिट्ठउ  
 तसु किर काइ कारइ जमु रुठउ ? |  
 जसु परमेष्ठि—मंतु मणि सिवसइ  
 सो दुहमज्जि कया वि न पइसइ ॥३१॥

अर्थ—उपर बताये ढंगका जो सद्गृहस्थ जन सद्गुरु महाराज की दयादृष्टि से देखा गया है उसका रुष्ट हुआ यमराज भी क्या कर सकता है ?। जिसके मनमें परमेष्ठी मंत्र रहता है, वह दुःखोंमें कभी नहीं पड़ता। दूसरे पक्षमें—जिस लग्नमें गुरु की दृष्टि ठीक हो उसको शनिश्वर भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं ॥३१॥

इय जिणदत्तुवएसु जि निसुणहि  
 पढहि गुणहि परियाणवि जि कुणहि ।  
 ते निव्वाण—रमणी सहु विलसहि  
 वलिउ न संसारिण सहु मिलिसिहिं ॥३२॥

अर्थ—इस प्रकार जिनदत्त—अरिहंतो के दिये हुए उपदेश को जो सुनते हैं पढते हैं गुणते हैं जानकर आचरण करते हैं वे निर्वाण—सुंदरीके साथ विलास करते हैं अजरामर को पाये बाद लोट कर संसार के दुःखों के साथ नहीं मिलेंगे। इस लोकमें प्रकारान्तर से कर्तने अपना नाम (जिनदत्त सूरि) यह सूचित किया है ॥३२॥



॥ इति कालस्वरूपकुलकम् समाप्तम् ॥

श्री श्री १०८ श्री मङ्गिनदत्त सूरीश्वर विरचितम्—

## ॥ चैत्यवन्दन कुलकम् ॥

अपर नाम सम्यक्त्वारोप प्रकरणम् ॥

मूल—नमित्तमण्ठंतगुणं, चउवयणं जिणवरं महावीरं ।

पडिवन्न-दंसणाणं, सरुवमिह कित्तइस्सामि ॥१॥

अथ—अनन्त गुण वाले समवसरण में चार मुख वाले एवं दान शील तप भाव रूप चार वचनों से-भेदों से धर्म को बताने वाले, राग द्वेष जीतने वाले, जिन सामान्य केवल योंमें प्रधान—जिनेश्वर श्रीमहावीर देव को नमस्कार करके प्राप्त किया है दर्शन—सम्यक्त्व जिनने ऐसे श्रावकों को स्वरूप यहां—इस प्रकरणमें मैं बताऊँगा ॥१॥

मूल—तिविहा य हुंति वासा, दुविहा ते हुंति दव्वभावेहि ।

दव्वमिमि दुविहा ते वि हु, गासपवाहेसु विन्नेया ॥२॥

अर्थ—ब्रतधारि श्रावक अपने लिये गुरु बनाते समय तीन प्रकार से वासक्षेप गुरु महाराज से लिया करते हैं। उनमें मुख्यतया द्रव्य से और भावसे ये दो भेद होते हैं। द्रव्य में भी दो प्रकार से लिया जाता है। उन गुरुका वासक्षेप हमारे धनधान्य की बढ़ावेगा इस भाव से लिया हुआ वासक्षेप—ग्रास वासक्षेप माना जाता है। और विना शोचे समझे सभी लेते हैं, अतः मैं भी लेलूँ। यह प्रवाह वासक्षेप है। ये दोनों द्रव्य वासक्षेप के भेद हैं ॥२॥

मूल—भावंमि य सुहगुरुपारतंतवसओ, सया वि विसयंमि ।

विहिणा जिणागमुत्तेण, जेर्सि सम्मत-पडिवत्ती ॥३॥

तेसु सुवासा ते हुंति, परमपयवासहेऊणो जेण ।

जणियाणंतप्पणगा, सयलकिलेसंतकरणखमा ॥४॥

अर्थ—संवेगी एवं गीतार्थ ऐसे श्री सद्गुरु महाराज को परतंत्रता के साथ और उन्हीं की सेवा में तत्परता के साथ सदैव श्रीतीर्थकरदेव-गणधर-युगप्रधान आचार्य महाराज आदि के-विषय में भक्ति बहुमान करना चाहिये । एवं उन्हीं के पास श्रीजिनागम में फरमाई हुई आवश्यक—चैत्यवन्दन स्वाध्याय—अपूर्व पठन—सदृध्यान—साधर्मिक वात्स—द्व्यादि—विधि से जिन भव्य जीवोंके सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । उन्हीं भव्यतमाओंके परम पद—मोक्ष पद के निवास हेतु, अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनन्त सुख, अनंत वीर्य और अनंत सम्यक्त्व इन पाँच अनन्तों को पैदा करने वाले, एवं समस्त क्लेशों का दुःखोंका अन्त करने में समर्थ ऐसे भाव से सुवास—अर्थात् सद्गुरु महाराज के डाले हुए—भाव वासक्षेप होते हैं ॥३-४॥

मूल—आययणमनिस्सकडं, विधिचेइयमिह तिहा सिवकरं तु ।

उस्सगगओववाया, पासत्थोसन्नसन्निकयं ॥५॥

आययणं निस्सकडं, पव्वतिहीसुं च कारणे गमणं ।

इयराभावे तसत्ति, भाववुड्डित्थमोसरणं ॥६॥

अर्थ—जिस से सम्यग् दर्शन—ज्ञान—चारित्रादि गुणों का लाभ होता है । अथवा जहाँ साधु नहीं रहते हैं उसको आयतन कहते हैं । वह भी जाती—ज्ञाती आदि के ममत्व से रहित हो तो अनिश्चाकृत माना जाता है । जिस में श्रीजैनागम प्रणीत गीतार्थ गुरु प्रदर्शित विधि आचरित किया जाता है उसको विधि चैत्य कहते हैं । इस प्रकार तीन विशेषणों से विशिष्ट देव मन्दिर शिव मोक्ष को करने वाला निश्चय से होता है । अतः सम्यक्त्व संपन्न भव्यात्मा आवोंकों को वहाँ सदैव जाना चाहिये । यह उत्सर्ग मार्ग-राज मार्ग है । पाश्वस्थ और अवसन्न शिथिलाचारी साध्वाभांसों के नाम जीन भक्तों द्वारा बनाये हुए मंदिरमें जहाँ की साधु वेष धारी नहीं रहते हैं । केवल उनकी देख रेख में जिसका हिसाब किताब चलता है—जिसको सूत्रकार निश्चाकृत आयतन—मंदिर मानते हैं—उसमें अपवाद से पर्व तिथियों में और कारण उपस्थित होने पर जाना चाहिये । हमेशा नहीं । आयतन—अनिश्चाकृत विधि—चैत्यके अभाव में उन श्रावकों की भाववृद्धि के लिये सुविहित साधुओं को उस में जाकर व्याख्यान करना चाहिये ॥५-६॥

१—सुगुरुणसंपयओ पारतं इह विणिद्विं ।

तेसि परतंतेहिं, अणुद्गुणं होइ कायब्बं ॥

२—विसओ पुण तित्ययग आयरिया गणहरा जुगप्पवरा ।

आणासायणाय भत्ते बहुमाणो होइ कायब्बो ॥

३—आवस्मर्चिहवंदण, सज्जायापूवपदणसज्भाणं ।

साहाम्मिय-वच्छल्लं, एवमाई विही भणिओ ॥

विधि चैत्य के होते हुए निश्राकृत चैत्यमें हमेशा जाने से प्रायश्चित्त लगता है मह बताते हैं—

**मूल—** विहिचेइयंमि सन्ते, पइदिणगमणे य तत्थ पच्छित्तं ।

समउत्तं साहूण पि, किमंगमबलाण सङ्गाण ॥७॥

**अर्थ—** जहाँ कहीं विधि चैत्य के वर्तमान होते हुए उन पार्श्वस्थावसन्न साध्वाभासों के निश्राकृत चैत्य में प्रति दिन जाने से साधुओं के लिये भी शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त फरमाया है। उसी में शास्त्रीय शक्ति से निर्वल ऐसे श्रावकों के लिये तो कहनाहीं क्या? अर्थात् उनको तो वहाँ हमेशा जाने में पद २ पर प्रायश्चित्त का अधिकारी होना ही पड़ता है। अतः ऐसे निश्राकृत चैत्य में हमेशा नहीं जाना चाहिये। अपवाद से कभी-कभी जाने की आज्ञा है॥७॥

अब सम्यक्षृष्टि श्रावक साधुओं को जहाँ कर्त्ता नहीं ऐसे चैत्यका स्वरूप बताते हैं—

**मूल—** मूलुत्तरगुणपडिसेविणो य, तं तत्थ संति वसहिसु ।

तमाणाययणं सुत्ते, सम्मत्तहरं फुडं वुत्तं ॥८॥

**अर्थ—** साधुओं के पञ्चमहात्रतादि मूल—खास गुणों के एवं पिण्ड विशुद्धि आदि उत्तर गुणों के प्रतिकूल आचरण करने वाले—मूलोत्तर गुण प्रति सेवी साधु वेस मात्र धारण करने वाले द्रव्यलिंगी जहाँ—वसतिओं में-स्थानों में मंदिरों में रहते हैं। उस स्थान को सूत्रों में स्पष्टतया सूत्रोंमें सम्यक्त्व नाशक फरमाया है॥८॥

**१—** जत्थ साहमियया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।

मूलगुणपडिसेवी, अणाययणं तं वियाणहि ॥१॥

जत्थ साहमिया सव्वे, भिन्नचित्ता अणारिया ।

उत्तरगुणपडिसेवी, अणाययणं तं वियाणहि ॥२॥

जत्थ साहमिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।

लिंगवेस पडिच्छन्ना, अणाययणं तं वियाणहि ॥३॥

**अर्थ—** जहाँ जूदे-जूदे वृत्तवाले आनार्यप्राय मूलोत्तर गुणके प्रतिकूल आचरणवाले एवं जूदे-जूदे लिंगवेश भूषावाले समानधर्मी साध्वाभास रहते हैं वह अनायतन नहीं जाने योग्य स्थान होता है।

मूल—जत्थ वसंति मढाइसु, चियदव्वनियोगनिमिषु च ।

साहमिषो त्ति लिंगेण, सा थली इय पक्पुत्तं ॥९॥

तमाणाययणं फुडमविहिचेइयं, तत्थ गमण पडिसेहो ।

आवसयाइ सुत्ते, विहिओ सुसाहु-सद्वाणं ॥१०॥

अर्थ—जहाँ चैत्यद्रव्य-देवद्रव्य के उपयोग से बने हुए मठ-उपाश्रय आदि में लिंगसे-वेशसे साधर्मिक साध्वाभास रहते हैं उसको-साधर्मिक स्थली श्रीनिशीथ सूत्र में बताई है । जैसे थली को नमस्कार आदि निष्फल होता है ठीक वैसे ही द्रव्यलिंगी साध्वाभासों से परिगृहीत चैत्यप्रतिमादि वन्दनभी निष्फल होता है । वह स्पष्ट रूप से अनायतन अविधि चैत्य होता है । वहाँ जानेके लियेभी आवश्वयक आदि सूत्रों में सुविहित साधु और तदनुयायी श्रावकों को<sup>१</sup> निषेध किया गया है ॥६-१०॥

मूल—जो उरसुत्तं भासइ, सदहइ करेइ कारवे अन्नं ।

अणुमन्नइ कीरंतं, मनसा वायाए काएणं ॥११॥

मिच्छदिट्टी नियमा, सो सुविहियसाहुसावएहिं पी ।

परिहरणिज्ञो जहंसणे वि, तरसेह पच्छित्तं ॥१२॥

अर्थ—जो व्यक्ति साधु या श्रावक उत्सूत्र बोलता है । वैसी श्रद्धा रखता है और वैसे ही आचरण करता है, दूसरों से भी वैसे ही आचरण करवाता है एवं कराते हुए उत्सूत्र मूलक आचरण का मन वचन और काया से अनुमोदन करता है, वह व्यक्ति नियम से-निश्चय करके मिथ्यादृष्टि होता है । सुविहित-आगमानुसारी आचरण करने वाले साधु एवं श्रावकों को उन उत्सूत्र आचरण वाले व्यक्ति का दूर से ही परिहार-त्याग कर

१—अत एव श्रीआशापल्यां पूर्व सैद्धान्तिक चक्र चूडामणिभिर्वादीन्द्रदिपद ( द्वीप ) घटा विद्वावन केसरिनिश्छद्व शुद्धकियाकारिभिः श्रीजिनपतिसूरिभिः श्रीप्रद्युम्नसूरिभिः सहायतनानायतनवादं कुमवाणीः सकलान्याचार्यचक्रप्रत्यक्षं औघनियुक्त्यादि सिद्धानुसारेण सविस्तरमायतनं संस्थाप्यानायतनं निराचक्रे, अतो अनायतन परिहारे सर्वसाधुभिः सम्यदृष्टि श्रावकैश्च यतितव्यम् । इति टीकाकारः

### अर्थात्

आशापल्ली में सैद्धान्तिकचूडामणि श्रीजिनपतिसूरीश्वरजी ने श्रीप्रद्युम्नसूरि जी के साथ आयतन अनायतन के संबंध में औघनियुक्त्यादि आगमों के अनुसार आयतन को स्थापित कर अनायतन का निराकरण किया था । यह इतिहास पट्टावली में भी मिलता है ।

हैना चाहिये । उन<sup>१</sup> उत्सूत्राचारियों के दर्शन करने-देखने से भी प्रायशिच्चत लगता है ॥११-१२॥

**मूल—धर्मत्थमन्नतित्थे, न करे तवन्हाण-दाण-होमाई ।**

**चियवंदणं निकालं, सक्त्थएणवि सया काहं ॥१३॥**

**अर्थ—**अन्य तीर्थों में धर्म के लिये तप-स्नान-दान-होम आदि न करे एवं सम्यक्त्व लिये बाद ऐसा अभिग्रह रखे कि—मैं हमेशा ही शक्तव-नमुत्थुणं पाठ से त्रिकाल चैत्यवन्दन करूँगा ॥१३॥

**मूल—संपुन्नं चियवंदण, दोवाराओ करेमि छमासं ।**

**अदृसयं परमिद्वीण, सायरं तह गुणिस्यामि ॥१४॥**

**अर्थ—**सम्यक्त्व स्वीकार के बाद छह महीने तक संपूर्ण चैत्यवंदन करूँगा । एवं १०८ बार परमेष्ठिमंत्र श्रीनवकार<sup>२</sup> मंत्रका जप करूँगा ॥१४॥

**मूल—जावज्जीवं चउवीसं, उद्दिट्टुंमि चउद्दसीसुं च ।**

**पुंनिम वीयएगारसि, पंचमि दोकासणाइ तवं ॥१५॥**

१—उत्सूत्रभासगा जे ते दुक्करकारगावि सच्छंदा ।

ताणं न दंसणं पि हु, कप्पह कप्पे जओ भणियं ॥१॥

कटुं करंति अप्प दमित, दवं वयंति धर्मत्थी ।

इकं न चयहि उस्सुतं-विसलवं जे बुद्धंति ॥२॥

उस्सुतदेवणाए चरणं नासिति जिणवरिदाणं ।

वावन्दंसणा खलु न हु लब्मा तारिसा दठ्ठुं ॥३॥

पयमक्खरं पि इकं जो, न रोवेइ सुत्त निदिट्ठुं ।

सेसं रोवंतो वि हु, मिच्छदिट्ठी जमालिव्व ॥४॥

( भावार्थ )

दुष्कर किया करने वाले भी जो स्वेच्छाचारी उत्सूत्र भाषक हैं उनका दर्शन नहीं करना चाहिये । ऐसा कल्प में फरमाया है । आगमों की एक बात भी नहीं मानता हुआ जमाली के जैसे मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।

२—नवकारेण जहन्ना, दंडग थुइ जमलिभमा नेया ।

संपुन्ना उक्की सा, विहि जुत्ता बंदणा होई ॥१॥

अर्थात्

सिद्धात में पूर्वधर्मों ने तीन प्रकार से चैत्यवंदना वर्ताई है । नमस्कार से जघन्य, दण्डक स्तुति आदि से मध्यम, और सम्पूर्ण विधि से युक्त उत्कृष्ट चैत्यवन्दना होती है । इस सम्बन्ध में विशेष विधि देववन्दन भाष्य आदिसे जानना चाहिये ॥

अर्थ—सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद श्रावक को जीवन पर्यत कम से कम चौबीस नवकार मंत्र जपने ही चाहिये । उद्दिष्ट-अमावस्या अष्टमी चतुर्दशी में और पूर्णिमा द्वितीया एकादशी पंचमी की पर्व तिथियों में बियासना आदि करना चाहिये ॥१५॥

मूल—पंचुबरिचउविगई, हिम-विस-करगे य सव्वमट्टी य ।

राइभोयणगं चिय, वहुबीयअणंतसंधान ॥१६॥

घोलबडा वाइंगण, अमुणियनामाणि पुण्फकलियाइं ।

तुच्छफणं चलियरसं, वज्जह वज्जाण बावीसं ॥१७॥

अर्थ—उदूंबर-उंवरा के बड़े के प्लक्ष के गूलर के और पीपल के फल, ये पांच उदूम्बर संज्ञा से प्रसिद्ध हैं । इनको ४ चार महाविगद्द-मद्य-मांस-शहद और मक्खन इनको ६ वरफ को १० अकीम-संखिया आदि विष को ११ वर्षाद में पढ़ने वाले गडों को १२ सब प्रकार की मिट्टी को १३ रात्रिभोजन को १४ जिसमें बीज बहुत हैं असात्विक बहु बीज फलों को १५ जो जमीन के अंदर पैता होते हैं—जो काट कर बोने पर ऊग जाते हैं—ऐसे<sup>२</sup> अनंत कायिक कादे आलू आदि फलों को १६ संधाना-अथाणों को १७ गरम न किये हुए दही मट्टे आदि में डाले हुए बड़े-घोलबडों को १८ वैगन को १९ जिन फलों को आप भी न जानता हो न दूसरा ही कोई जानता हो—ऐसे अज्ञात पुष्प फलों को २० पीलू-पीचू आदि तुच्छ फलों को २१ जिसका रस चलायमान हो गया है—ऐसी चलितरस वस्तु को २२ इन बावीस छोड़ने योग्य अभक्ष्य वस्तुओं का हे भव्यात्मा मुमुक्षुओं<sup>१</sup> अपने हित के लिये छोड़ दो ॥१६-१७॥

१—भयं बीय पमुहासु पंचसु तिहिसु अणुद्राणं कथं किं फलं होइ ? गोयमा बहुफलं भचइ जेओं णं जीवे पाएणं एयासु तिहिसु परभवाउयं बंधइ । तम्हा समणेण वा समणोए वा सावएण सावियाए वा विसेसओ धम्माणुद्वाणं कायव्वं ।

महानिशीथ सूत्रे—

२—अनंतकाय बत्तीस प्रकार के होते हैं उनके नाम—

सव्वायकंद्जाई, सूरणकंदो य वज्जकंदो य ।

अहहलिद्वा य तहा, अहं तह अल्लकच्चूरो ॥१॥

सत्तावरी विराली, कुमारी तह थोहरी गिलोइ य ।

लहसणवंस करिल्ला, गज्जर तह लोणओ लोढा ॥२॥

गिरिकन्नकिसलपत्ता, कसेरुगा थिगगअल्लमुत्थाय ।

तह लूणरुक्षल्लवली, खिलुडो अमय वल्ली य ॥३॥

मूला तह भूमिरसा, विरहा तह ढक्कवथुलो पढमो ।

सूयरवल्लो य तहा, पल्लंको कोमल-बिलिया ॥४॥

**मूल—संगरहलि-मुग्ग-मुहट्ट-मास-कंडुपमुक्खवियलाइं ।**

**सह गोरसेण न जिमेए य, राइत्तियं न करे ॥१८॥**

**अर्थ—** सांगरफलियें<sup>१</sup> सांगरियें, मूंग, मौठ, उड्ड, कंडुक धान्य विशेष आदि दो दल वाले अनाज— ( कठोल धान्य वाल चंबले, चणे, तूअर-अरहर, कुलथी, मसूर, मेथी आदि जिनकी दो फाड़ें होती हैं ऐसे द्विदल धान्य ) विना गरम किये गोरस में दही-छाछ-मट्टे आदि में नहीं खाने चाहिये । न राइत्ता ही बनाना चाहिये ॥१८॥

द्विदल के लक्षण को बताते हैं—

**मूल—जम्मि य पिलिज्जंते, मणयं पि न नेहनिग्गमो हुज्जा ।**

**दुन्नियदलाइ दीसंति, मित्थिगाईण जह लोए ॥१९॥**

**अर्थ—** घट्टी में पीसने पर जिसमें से तेल का निर्गम नहीं होता, तेल नहीं निकलता है । एवं जिसमें दो दल प्रत्यक्ष दीखते हैं । जैसे कि लोक में मेथी आदि धन्य में देखा जाता है । उनको द्विदल कहते हैं ॥१९॥

**मूल—निसि न्हाणं वज्जेमि, अच्छाणिएणं चुणा दहाईसु ।**

**अंदोलणं च वज्जे, जीयाण जुज्ज्वावणाई य ॥२०॥**

**अर्थ—** सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाला श्रावक प्रतिज्ञा करके ताकि मैं रात्रि में स्नान नहीं करूँग । अनज्ञाने पानो से स्नान नहीं करूँगा । हौद, कँॅ तलाव वावड़ियो में भी स्नान नहीं करूँगा । अर्थात् दिन में जीवाकुल भूमि को छोड़ कर कपड़े से छने हुए परिमित पानी से श्रावक को स्नान करना चाहिये । हिंडोले की क्रीड़ा को भी नहीं करनी चाहिये स्व-परोपघातक होने से । मूर्ग-सांढ आदि जीवों को परस्पर में लडाना नहीं चाहिये । ऐसा करने से उन अबोध जीवों का नाश होता है और उनके संरक्षकों में वैर वृद्धि होती है । अतः ऐसे विधातक काम श्रावक को छोड़ देने देने चाहिये ॥२०॥

**मूल—न वहेमि पाणिणो न य भण्णमि भासं मुसं न य मुसामि ।**

**परदब्बं परजुवइं नामियमिह परिगगहं पि करे ॥२१॥**

आलू तह पिंडालू वत्तीसं जाणिउण अणंताइ<sup>१</sup> ।

एयाइं बुद्धिमणा वज्जेथवा पयरोण ॥५॥

१ कई लोग मूंग मौठ आदि का तो कच्चे गोरस के साथ उपभोग नहीं करते परंतु सांगरियाँ, बांडलिये की फलियाँ आदि के लिये कच्चे दही छाछ का परहेज नहीं करते हैं । वे लोग मूंग-मौठ आदि को तो धान्य द्विदल मानते हैं, और सांगरियाँ बांडलिये की फलियाँ आदि को काष्ठ द्विदल मानते हैं । किन्तु सिद्धांत में द्विदल के संबन्ध में ऐसे भेद नहीं बताये हैं । अतः विवेकियों को कच्चे दही छाछ मट्टे आदि में किसी भी द्विदल को नहीं खाना चाहिये ।

अर्थ—सम्यक्त्व को स्वीकार करने पर श्रावक को बाहर व्रत पालन करने चाहिये । सब प्रकार के नियमों में मूलभूत पाँच अणुव्रत होते हैं । उनमें पहिला व्रत यह है कि-प्राणियों को चलते फिरते आंखों से दीखते स्थूल जीवों को विना कारण अपराधीको नहीं मारूँगा । दूसरा व्रत-मृषा भाषा-जिसके बोलने से उत्तम लोगों में निंदा हो, एवं राजा से दंडित हो एवं दूसरों का धात होता हो—ऐसी असत्य वाणी नहीं बोलूँगा । तीसरा व्रत-विना दिये हुए दूसरे के द्रव्य को नहीं लूँगा अर्थात् चोरी नहीं करूँगा । चौथा व्रत-स्त्री में संतोष रखते हुए पर स्त्री का संगभी नहीं करूँगा । पाँचवां व्रत—जरूरत से जादा अमित परिग्रह धन-धान्य-क्षेत्र आदि का संप्रह नहीं<sup>१</sup> रखूँगा ॥२१॥

**मूल—**बहुसावउजं वाणिउजमवि, सया तिव्वलोहओ न करे ।  
बहुलोयगरहणिउजं, विजाइकम्मं पि वउजेइ ॥२२॥

अर्थ—हमेशा तीव्र लोभ से अधिक पाप वाले व्यापार श्रावक को नहीं करने चाहिये । एवं बहु लोक गर्हणीय धोवी, चमार, नाई, आदि नीच जाति के काम भी नहीं करने चाहिये । अथवा-गर्भपातनादि बहु लोक गर्हणीय वैद्य-डाक्टर आदि के का भी नहीं करना चाहिये ॥२२॥

**मूल—**रायनियोगाइगयं, खरकम्मं परिहरामि जहुसत्ति ।  
पवयणसाहमिमणं, करेमि वच्छल्लम विगप्तं ॥२३॥

अर्थ—राजा आदि की नौकरी में रहते हुए भी कठोर कर्म को यथाशक्ति छोड़ना चाहिये । एवं जैन प्रवचन-शासन को समान रूप से मानने वाले साधर्मि वंधुओं के प्रति तन मन धन से वात्सल्य अवि-कल्प-भेदभाव के बिना करना चाहिये । इसके लिये भी श्रावक को अभिग्रह रखना चाहिये ॥२३॥

साधर्मिकों के साथ कैसे बरतना चाहिये यह बताते हैं—

**मूल—**तेहि समं न विरोहं करोमि न च धरणगादि कलहं पि।  
सीयंतेसु न तेसि सइ विरिए भोयणं काहं ॥२४॥

अर्थ—उन साधर्मी वंधुओं के साथ कदापि विरोध नहीं करूँगा धरणा'-डिप्री-जप्ति आदि लड़ाई भगाड़े भी उनके साथ नहीं करूँगा । साधर्मिक लोग तन-धन से या

१—श्रावक इन पाँच अणुव्रतों की रक्षा के लिए ३ गुण व्रत, और ४ शिक्षा व्रत रखते हैं । श्रावक के बारह व्रत होते हैं । जिज्ञासु अन्यत्र से जानें ।

किसी और प्रकार से दुःखी हों उस हातलमें शक्तिके रहते उनका दुःख<sup>१</sup> मिटाये विना भोजन भी नहीं करूँगा ॥२४॥

**मूल—द्रम्माउ होणतरगं, जिणभवणे न साडगं दाहामि ।**

अणुचियं नटुं गीयं च, रासयं आसणाई वि ॥२५॥

निटीवणखिवणाई, सव्वं चासायणं न य करेमि ।

सजिण-जिणमंडवं ते कारणसुयणं च मुक्तलयं ॥२६॥

**अर्थ—**द्रम्म<sup>२</sup> नामक द्रव्य से कमती मूल्य में आना वाला कपड़ा जिन मंदिर में नहीं दूँगा । अनुचित नृत्य-गीत-रास गरबे आदि एवं अनुचित आसनादि नहीं करूँगा । थूंक-खखार-नाकका मैल फकना आदि सब प्रकार की आसातना<sup>३</sup> नहीं करूँगा । जहाँ जिनेश्वर देव की प्रतिमा विराजमास है ऐसे जिन मंडप में सोना भी निषिद्ध है । कारण विशेष होने पर सोना मोक्ता रखता हूँ । अर्थात् गाढ़ कारण होने पर सो सकूँगा ॥२५-२६॥

**मूल—नाणाधरियाणमयंतराणि, सुन्तुत्तजुत्तिबज्जाणि ।**

सोऊण कुसत्थाणि य, मन्नामि य दुक्खजनगाणि ॥२७॥

१—विवायं कलहं चेव, सव्वाहा परिवज्जइ ।

साहम्मिएहि सद्दि, तु जओ सुते वियाहियं ॥१॥

जो किर पहरइ साहम्मियंमि, कोवेण दंसणमणम्मि ।

आसायणं चो जो (सो) कुणइ, निक्तिवो लोगबंधुणं ॥२॥

आणाय वहंतं जो उव दूहिज्ज मोह दोषेण ।

तित्थयरस्स सेयस्स य, संघस्स य पच्चणीओ सो ॥३॥

साधमिकुलके नवांग वृत्तीकार श्री अभयदेव सूरी ।

सो आत्थोतं च सामत्थं, तं विन्नाण मणुत्तमं ।

साहम्मियाणा कज्जमि, जं वच्चंति सुसावया ॥४॥

२—द्रम्माद् भीमप्रिय-विसलप्रिय-नामकात्-इति टीकाकारः ।

३—खेलं केलि कालिं कला कुललयं तन्बोल मुगगालयं,

गाली कंगुलिया सरीरधुवणे केसे नहे लेहियं ।

भक्तोसं तय पित्त वंत दसणे विस्सामणं दामणं

दंत तिथ नह गंड नासिय सिरोसुत छवर्ण मलम् ॥५॥

मंतं मीलण लोलयं विभजनं भण्डार दुद्धुसणं

छाणी कप्पड दालि पप्पड वडी विस्सारणं नासणं ।

अक्कंदं विकहं सरत्थघडणं तेरिच्छ संठावणं,

अगगीसेवणं रंधणं परिखणं निस्सीहियाभंजणं ॥६॥

अर्थ—अनेक आचार्यों के सूत्रोक्त युक्तियों से बाह्य आगम युक्ति विकल जूदे २ १ मतान्तरों को एवं कुशास्त्रों को सुन कर निश्चित रूप से मानूंगा किये भवान्तरों में दुःख देने वाले हैं । ऐसा मान कर उनमें श्रद्धा नहीं करनी चाहिये ॥२७॥

( शारूल विक्रीडित वृत्तम् )

मूल—सव्वन्नूण-मयं मएण रहिओ सम्मं सया साहए,  
भव्वाणं पुरओ पवाहविरओ निच्छम्म निम्मच्छरो ।  
सो मे धम्मगुरु सया गुणिगुरु कल्याणकारी वरो,  
लग्गो जो जिनदत्त सोहणपहे नीसेससुकखावहे ॥२८॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ वीतरराग भगवान तीर्थकर देव के मत को मद रहित होते हुए सदा भली भाँति साधते हैं । जो भव्यात्माओं के सामने लोकप्रवाह से अलग रहते हुए धर्मोपदेश सुनाते हैं । जो कपट रहित और मात्सर्य भाव से मुक्त हैं । जो गुणियों के गुरु हैं कल्याणकारी हैं एवं जो ज्ञान दर्शन चारित्र में प्रधान हैं और समस्त सुख को वहन करने वाले जिनदत्त-श्रीजिनेश्वर भगवान द्वारा दिये हुए—उपदेश द्वारा दिखाये हुए शोभन पवित्र मार्ग में प्रवृत्तिशील हैं वे ही महात्मा मेरे हमेशा के धर्म गुरु हैं । ऐसी पवित्र भावना सम्यक्त्वधारी श्रावक को रखनी चाहिये । इस श्लोक में प्रकारान्तर से कर्त्ता अपना (जिनदत्त सूरि) ऐसा नाम भी सूचित कर दिया है ।

छत्ती वाणह सत्थ चामर मणोणेगत्त मव्भंगणं  
सच्चित्ताणमवाय चायमजिए दिट्टीअ नो अंजलो ।  
साडे गुत्तर संग भंग मउडं मोलिं सिहरोसेहरं,  
हुडा जिडुहगंडियाइरमणं जोहार चंडक्षियं ॥ ३ ॥ ( ६५ )  
रेकारं धरणं रणं विवरणं बालाण पल्लतियं,  
पाऊ पायपसारणं पुडपुडो पंकं रडं मेहुणं ।  
जूया जेमण गुजम्म विज वणिं सिज्जं जलुमज्जाणं  
ए माइ य सवज्ज कज्ज मुजओ वज्जे जिणिंदालये ४ ॥ ( ८४ )

१—देवगृहवास, देव द्रव्य भाक्षण, यतिदेव पूजा, श्रावक मुखवस्त्रिका, स्थापनाचार्य प्रतिक्रमण, देवाग्रबलिप्रदानात्रिक मांगलिक्यादि प्रतिषेधन, प्रासुक शोतल जलदानगलनक ग्रहण निवारण, जात सूतक-मृतक सूतक रजक तंतु वायादि नीच जति सक्त वस्त्र पात्र भक्त पानक खादिभ स्वादिम रूप चतुर्विधाहार-ग्रहण, पर्व तिथि कल्याणिक तिथि वर्जित तिथि पोषध ग्रहण.....रूपवाणि ॥

॥ इति चैत्यवन्दन-कुलकम् समाप्त ॥

श्री श्री १०८ श्री श्रीमज्जिनदत्तसूरीश्वर विहितं

## ॥ संदेह-दोलावली ॥

अपर नाम

कतिपय संशय पद् प्रभोत्तर

प्रकरणम्

( अनुवादक—श्रीमज्जिनहरिसागरसूरी )

पडिविम्बिय पणयजयं, जससंघ्रिरुहोरुमुउरमालासु ।

सरणागयं व नडजइ, तं नमिय जिणेमरं वीरं ॥ १॥

अर्थ—प्रणाम करता हुआ जगत् जिनके पद-नव रूपदर्पणोंमें प्रतिविम्बित होता हुआ शरणागत के जैसे देखा जाता है। उन शासनाधीश्वर जिनेश्वर श्रीवीरप्रभु को विनय बन्दन कर के ।

कइवयसंदेहपयाणमुत्तरं, सुगुरुण संपयाएणं ।

वुच्छुं मिच्छतमओ तमन्नहा होइ संमइयं ॥२॥

अर्थ—सुविहितगीतार्थ गुरु देवों के सम्प्रदाय के अनुसार कितनेक संदेह स्थानों के उत्तर को मैं कहूँगा! इसलिये कि उसके कहे विना सांशयिक नामका मिथ्यात्व होता है ।

सुगुरुपृदंसणं पइ कयाभिलासेहि सावयगणहि ।

परमसुहकम्मपयडिप्पडिमिद्धतदिट्टमंगेहि ॥ ३॥

अर्थ—श्री सद्गुरु महाराज के दर्शनों के प्रति जिनकी अभिलापा है, परंतु अशुभ कर्मप्रकृति के उदय से प्रतिविद्ध हो रहे; हैं श्रीगुरुमहाराज के इष्ट दर्शन सत्संग जिनके ऐसे अनेक देशीय भावक समुदायों को — ।

गीयत्थाणं गुरुणं, अदंसणाओ कहुं भवे सत्रणं ।

सवणं विणा कहुं पुण, धमाधम्मं विलक्खिखज्जा ॥४॥

अर्थ—गीतार्थ सद्गुरुओं के दर्शन नहीं होने से शास्त्र श्रवण कैसे हो। फिर शास्त्रों को सुने विना धर्म को एवं अधर्म को कैसे पहिचानें। अर्थात् गुरु दर्शन-सत्संग के बिना धर्माधर्म को पहिचना मुश्किल है ।

कहमित्थ पयणद्वां, धम्मो संभवइ कहमधम्मो य ।  
धम्मो वि दुहा इह, दव्वभावमेएहिं सुपसिद्धो त्ति ॥५॥

अर्थ—इस संसार में किस प्रकार प्रवृत्ति करने से किस प्रकार का धर्म होता है हाला कि लोरुदिसे धर्म और अधर्म को सभी जाते हैं। परन्तु यथार्थ अनुष्ठान ज्ञान का अभाव गुरुगम के बिना रहता ही है। एवं यथार्थ अनुष्ठान के बिना कार्य सिद्धि भी नहीं होती। द्रव्य और भाव इन दो भेदों से धर्म भी दो प्रकार का होता है, यह बात तो सुप्रसिद्ध ही है।

गङ्गियपवाहाओ-जो पइनयरं दीसए बहुजणेहिं ।  
जिणगिहकारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ॥६॥

अर्थ—गाडरियाप्रवाह से—अविचारपूर्ण प्रवृत्ति से प्रत्येक नगर गांव आदि में शुभाचार रूप होने से यह धर्म है, ऐसा जो धर्म है। जिसमें कि अविधि पूर्वक जिन मंदिर बनाना-पूजना आदि कार्य होते हैं। वह धर्म सूत्रविरुद्ध, और अशुद्ध माना जाता है। क्यों कि उसमें सद्गुरुओं की सत् शास्त्रों की आज्ञा नहीं होती।

सो हाई दव्वधम्मो अपहाणो नेय निवुइं जणइ ।  
सुद्धो धम्मो विओ, महिओ पडिसोयगामीहिं ॥७॥

अर्थ—सूत्र विरुद्ध एवं अशुद्ध ऐसा वह शुभाचार रूप धर्मभी द्रव्य धर्म कहा जाता है। वह अप्रधान होने से निवृत्ति-परमानन्द रूप मुक्ति को पैदा नहीं करता। आगम विहित, गीतार्थगुरु अनुमत प्रतिश्रोतगामी-त्याग मार्ग को स्वीकारने वाले संयमी पुरुषों द्वारा अराधित, ऐसा दूसरे प्रकार का विचार पूर्वक किया हुआ धर्म-भावधर्म माना जाता है, एवं वह शुद्ध है।

जंण कुएण जीवो, निवडइ संसारसागरे धोरे ।

तं चेव कुणइ कज्जं, इह सो अणुसोयगामी उ ॥८॥

अर्थ—जिस काम के करने पर जीवात्मा धोरसंसार सागर में गिर जाय—उस कामको जो करता है, उसको इस प्रवचन में अनुश्रोतगामी बताया है।

जेणाणुद्वाणेण खविय, भवं जंति निवुइं जीवा ।

तक्षरणरुई जो किर‘ नेओ पडिसोयगामी सो ॥९॥

अर्थ—जिस अनुष्ठान-क्रिया कलापको करके जीव अपने संसार को मिटा करके निर्वाण धाम में पहुँच जाते हैं। उस अनुष्ठान को करनेकी रुचि-वाला मनुष्य निश्चय करके प्रतिश्रोतगामी शास्त्रो में बताया है ऐसा जानना चाहिये।

पठमगुणट्टाणे जे जीवा, चिठ्ठंति तेसि सो पठमो ।

होइ इह द्रव्यधर्मो, अविशुद्धो वीयनामेण ॥१०॥

अर्थ—पहिले मिथ्यत्वगुणस्थानकमें जो जीव रहते हैं, और वे जो अनुष्ठान-क्रिया करते हैं, उनको वह पहिला द्रव्यधर्म अविशुद्ध इस दूसरे नाम वाला होता है। अर्थात् मिथ्यात्वीयों का आचरण अविशुद्ध नामका द्रव्य धर्म है।

अविरयगुणट्टाणईसु, जेय ठिया तेसि भावओ बीओ ।

तेण जुआ ते जीया, हुंति सबीआ अओ सुद्धो ॥११॥

पठमंमि आउबंधो, दुष्करकिरियाओ होइ देवेसु ।

तत्तो वहुदुखपरंपराओ, नरतिरियजाईसु ॥१२॥

अर्थ—अविरतसम्यग्द्विगुणस्थान आदिमें जो रहे हुए हैं उनका शुभ अनुष्ठान-धर्म-दूसरा भाव धर्म है। उससे संपन्न जो जीव होते हैं वे बोधिजीज करके सहित होते हैं अतः यह दूसरा शुद्ध भावधर्म है। अर्थात् पहिला साधुओंका शुद्ध भावधर्म दूसरा गृहस्थों का शुद्ध भाव धर्म।

अर्थ—पहिले द्रव्यधर्मके के अधिकारी दुष्कर-कठोर क्रिया का आचरण करके देव संबंधी आयुष्य का बंध करके देवता में पैदा होते हैं। बाद में विषयभोगकी तल्लीनता के कारण नर निर्यं च आदि दुर्गतियों में बहुत दुःख परंपराओं को भोगते हैं—ऐसे जोवोंके लिये ही कहा जाता है—राजेसरी नरकेसरी”।

मूल—ब्रीएविमाणवउज्जो आउयबंधो न विज्जाए पायं ।

सुखित्तकुले नरजम्म, सिवगमो होइ अचिरेण ॥ १३॥

अर्थ—दूसरे भावधर्म के अधिकारी के वैभानिक देवों के सिवाय नीच जाती के देवता तक का आयुष्य प्रायः करके नहीं बंध होता। भाव धर्माधिकारी जीव वैभानिक देव होकर सुक्षेत्र और सुकुल में मनुष्यजन्म प्राप्त कर भटपट मोक्षगामी होता है।

मूल—पाणिवहाई पावट्टाणाणट्टारसेव जं हुंति ।

होइ अहम्मो य तेसु पवट्टमाणस्स जीवस्स ॥१४॥

अर्थ—प्राणीवध-हिंसा आदि पापके अठारह स्थानक जिसके करने से होते हैं। उन कामों में प्रवृत्ति मान जीवको अधर्म होता है।

मूल—तत्तो तिरियनरयगई, अद्वं रुदं च दुन्निज्ञाणोइं ।

सग्गापवग्गा-सुहसंगमो कहं तस्स सुमिणे वि ॥१५॥

अर्थ—उन पापस्थानों के सेवनसे हुए अधर्म से तिर्यंच गति और नरक गति होती है। उनमें भी आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों दुर्धर्यान बने रहते हैं। इस हालत में उस अधर्म का आचरण करने वाले को स्वप्न में भी स्वर्ग और मोक्षसुखका संगम कैसे प्राप्त कर सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

मूल—तम्हा कयसुक्याणं सुगुरुणं दंसणं फुडं होइ ।

कत्तो निष्पुणाणं गिहमि कप्पद्मुप्पत्ति ॥१६॥

अर्थ—इसलिये किया है सुकृत-पुण्य जिनने ऐसे पुण्यवंतों को श्रीसदगुरु महाराज के दर्शन प्रत्यक्ष में प्राप्त होते हैं। यह भी ठीक ही है कि निष्पुण्य-भाग्यहीन आदमी के घर कत्पद्म की उत्पत्ति कहां से हो।

मूल—भवा वि केइ नियकम्मपयडिपडिकुलयाइ संभूया ।

जत्थ सुसाहुविहारो संभइ न सिद्धिसुक्खकरो ॥१७॥

अर्थ—कितनेक भव्यात्मा भी अपने कर्मों की प्रकृतियों की प्रतिकूलता से वहां पैदा होते हैं, जहां सिद्धिसुख को करनेवाला सुसाधुओं का विहार (असंयम क्षेत्र की प्रधानता के कारण) नहीं होता।

मूल—पर्यईए ५ वि हु तेसिं, सद्भम्मपसाहणुज्जयमणाणं ।

सुगुरुणं अदंसणओ, संदेहसयाणि जायंति ॥१८॥

अर्थ—स्वभाव से ही सधर्म की साधना में उत्कण्ठित होनेवाले उन भव्यात्माओं के दिलमें श्रीसदगुरु महाराज के अदर्शन (संसर्ग) से सैकड़ों संदेह पैदा होते हैं।

मूल—ते सन्देहा सच्चे गुरुणो विहरंति जत्थ गीयत्था ।

गंतु पुठव्वा तत्थ इहरहो होय मिच्छत्तं ॥१९॥

अर्थ—उन सभी संदेहों को जहां श्रीसदगुरु महाराज विचरते हैं वहां जाकर पूछ लेने चाहिये। अन्यथा अतत्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्म्व की प्राप्ति होती है।

मूल—संसद्यमिह चउत्थं, निस्सन्देहाण होय सम्मतं ।

जुगपवरागमगुरु, लिहिय वयणदंसणसुर्ईर्हिते ॥२०॥

अर्थ—सन्देहोंके निवारण न होने पर सांसायिक नामका चौथा भिथ्यात्म्व होता है। इसी प्रकार जिनके संदेह मिट जाते हैं उन निस्सन्देह भाव वालों को निर्मल सम्यकत्व पैदा होता है। युग्रधानबोधवाले गुरुमहाराजाओं के लिखे हुए वचनों को सिद्धान्तोंके वेक हृष्टि से देखने से एवं सुनने से सन्देह नष्ट होते हैं।

**मूल—तो ते भव्वा जेसिं, होइ सडावस्सए वि इइबुद्धी ।**

**कह सिद्धंते वुत्तं, भव-सिव-दुह-सुहकरं एयं ॥२१**

**अर्थ—** कितनेक लोग मन्दिर आदि के संबन्ध में तर्क करना उचित मानते हैं। परन्तु सडावश्यक क्रिया में नहीं। उन लोगों को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ कार फरमाते हैं कि— आवश्यक में भी द्रव्य-भाव आदि अनेक रूपता होने से सडावश्यक में भी इस प्रकारकी तर्क बुद्धि जिनके दिलमें उत्पन्न होती है कि सिद्धान्त में आवश्यक किस प्रकार फरमाया है ? वह संसार का हेतु है ? या मोक्षका ? सुखकारी है ? या दुखकारी ?। इस प्रकार सडावश्यक में तर्कणा करने वाले वे लोग भव्य-सुन्दर प्रकृति वाले ही हैं।

**मूल—एसो किर सन्देहो जायइ केसिं पि इत्थ भव्वाणं ।**

**परिग्रहपरिमाणं सावगेण एगेण जं गहियं ॥२२॥**

**मूल—तं अन्नो वि हु भव्वो, घित्तुणं पालय पहत्तेणं ।**

**जय ता जुत्तं किमजुत्तमित्थ तत्थुत्तरं एयं ॥२३॥**

**अर्थ—** कितनेक भव्यात्माओं को यहां यह सन्देह होता है कि एक श्रावक ने जैसे परिग्रहपरिमाण ब्रत को लिया है उसको साक्षी मानकर उसी तरह से यदि कोई दूसरा भव्यात्मा श्रावक परिग्रहपरिमाण ब्रत लेकर प्रयत्न पूर्वक पालन करता है। अर्थात् संयोग वशात् गुरु साक्षी से ब्रत नहीं लिया—तो वह परिग्रहपरिमाण ब्रत का पालन उचित है ? या अनुचित ? इस प्रकार का प्रश्न होने पर उसका उत्तर यह है कि—।

**मूल—भवभिरु संविग्गो, सुगुरुणं दंसणमिमि असमत्थो ।**

**ता तं पवजिज्जुणं, पालइ आराहगो सो वि ॥२४॥**

**अर्थ—** गुरुसाक्षी से गृहीत परिग्रहपरिमाण ब्रत वाले के परिग्रह परिमाण को देखकर कोई भवभीरु संसार से उद्धिग्न चित्तबाला सद्गुरु महाराज के दर्शन करने में असमर्थ ही हो उस हालत में उस परिग्रहपरिमाण ब्रत को अपना कर उक्त मर्यादा से अगर पालन करता है तो वह आराधक भगवान का आज्ञाकारी ही है।

अति प्रसंग को निवारणार्थ कहते हैं—

**मूल—जइ तं गीयत्येहिं, सुगुरुहिं दिट्ठमत्थि सत्थोत्तं ।**

**ता तं परोवि गिणहउ, तगगहणं नन्नहा जुत्तं ॥२५॥**

**अर्थ—** अगर वे वह परिग्रहपरिमाण गीतार्थ सद्गुरुओं द्वारा देखा गया है और यदि वह शास्त्रोक्त है तो उसको दूसरा भी ग्रहण करो। यदि ऐसा नहीं है, तो वह ग्रहण करना भी युक्त नहीं है।

**मूल—ठवणायरिए पडिलेहियम्मि, इह साविग्गाइ वंदणयं ।**

**किं सावगस्स कप्पइ, सामाइय माइ करणं च ॥२६॥**

अर्थ—क्या श्राविका से प्रतिलेखन कराये हुए स्थापनाचार्य पर श्रावक को बन्दन करना उचित है ? और सामायिक पौष्टि आदि करना भी क्या ठीक है ?

**मूल—कप्पइ न एगकालं, वंदणसमाइयादि काउं जे ।**

**एगस्स पुरो ठवणायरियस्स य सडूसड्हीणं ॥२७॥**

अर्थ—उपर के प्रश्न के जवाब में कहते हैं कि—हां कल्पता है । परन्तु एक काल में एक ही स्थापनाचार्य जो के सामने श्रावक श्राविकाओं को एक साथ में बन्दन सामायकादि अनुष्ठान करना नहीं कल्पना है । अलग २ स्थापनाचार्य होने चाहिये । प्रतिलेखन मेल कोई करे । एक स्थापना चार्य पर तो एक के—श्रावक के या श्राविकाके अनुष्ठान हो जाने-पर ही दूसरा-श्रावक या श्राविका अनुष्ठान करें । एक साथ नहीं ।

**मूल—उरसुत्तभासगाणं, चेयहरवासिदव्वलिंगीणं ।**

**जुत्तं किं सावय-सावियाणं वक्खाणमवणं त्ति ॥२८॥**

अर्थ—उत्सूत्र भाषण करने वाले चैत्यवासी या घरमें रहने वाले द्रव्य लिंगी साधु-ओंका व्याख्यान सुनना क्या श्रावक श्राविकाओं को उचित है ?

**मूल—तित्थे सुत्तत्थाणं, सवणं तित्थं तु इत्थ णाणाई ।**

**गुणगणजुओ गुरु खलु, सेससमीवे न तगहणं ॥२९॥**

अर्थ—उपर के प्रश्न के जवाब में फरमाते हैं कि—सूत्र और अर्थ का सुनना तीर्थ में ही ठीक होता है , और तीर्थ-तिराने वाले यहां ज्ञानादि गुण ही हैं । उन गुण समुदाय से संपन्न साधु ही गुरु हो सकते हैं । गुरु के पास में ही सूत्र-अर्थ सुनना चाहिये । दूसरो के पास में सूत्रार्थ का ग्रहण अनुचित है ।

**मूल—इहरा ठेवइ कन्ने, तस्सवणा मिच्छमेइ सा विहू ।**

**अबलो किमु जो, सड्हो जीवाजीवाइअणभिन्नो ॥३०॥**

अर्थ—कदाचित् उन चेत्यवासी या स्वच्छंदाचारियों के स्थान में जाना ही पड़े तो शक्ति सम्पन्न साधु इसका प्रतिबाद करे । प्रतिबाद करने की हालतमें न हो तो अपने दोनों कानोंको स्थगित कर दें । क्यों कि उन शिथिला चारियों की धर्मकथा को सुनने से अपरिपक्वज्ञानवाला साधु भी मिथ्यात्त्र को प्राप्त हो जाता है । सैद्धान्तिक ज्ञान से निर्बल और जीवाजीवादि तत्त्वों से अनभिज्ञ ऐसे श्रावक के लिये तो कहना ही क्या ?

मूल----कीरइ न वत्ति जं, दव्वलिंगणो वंदणं इमं पुट्ठं ।

तत्थेयं पच्चुत्तरं लिहियं आवस्सयाईसु ॥३१॥

अर्थ—द्रव्यलिंगि-शिथिलाचारियों को बन्दन करना चाहिये या नहीं ? इस प्रकार जो प्रश्न किया गया है उसके प्रति आवश्यकआदि सूत्रों में यह उत्तर लिखा हुआ है ।

मूल—पासत्थाई वंदमाणसस, नेव कीत्ति न निज्जरा होइ ।

कायकिलेसं एमेव, कुणइ तह कम्मवंधं च ॥३२॥

अर्थ—पासत्थे आदि शिथिलाचारियों को बन्दन करते हुए श्रद्धालु व्यक्ति की न कीति होती हैं, और न निज्जरा ही हती है । केवल कायकलेष और कर्म बन्ध है ही वह करता है ।

मूल—जो पुण कारणजाए, जाए वायाइओ नमोकारो ।

कीरइ सो साहूणं, सद्गुणं सो पुण निसिद्धं ॥३३॥

अर्थ—कारणों के उत्पन्न होने पर पासत्थे आदियों को साधु ही वाचिक नमस्कार करें । श्रावकों के लिये तो वाचिक नमस्कार भी निषिद्ध है । अर्थात् उनको श्रावक वचन से भी नमस्कार न करें । क्यों कि श्रावक आगमगत विशिष्ट विचारों से अनज्ञान होते हैं ।

मूल—पोसहियसावयाणं, पोसहसालाइ सावगा वहुगा ।

गंतुं पगरणजायं, किंपि वियारिति तं जुत्तं ॥३४॥

अर्थ—पौषध ग्रहण करनेवाले श्रावकों की पौषधशाला में बहुत से श्रावक जाकर उपदेशमाला-जीवविचार आदि किसी अनिदिष्ट प्रकरण विशेषको विचारते हैं । वह क्या ठीक है ?

मूल—केणइ गीयत्थगुरुं, आराहंतेण पगरणं किंचि ।

सुदुसुयं नायं चिय, तस्सत्थं कहइ सेसाणं ॥३५॥

अर्थ—सुविहित गीतार्थ गुरु महाराज की आराधना करने वाले किसी श्रावक ने यदि कोई प्रकरण भलीभाति सुना हो एवं जाना हो तो उसके अर्थको बाकी के श्रावकों को कहता है कहना चाहिये ।

मूल—तं च कहंतं अन्नो, जइ पुच्छइ कोवि अवरमवि किंचि ।

जइ मुणइ तं पि सो कहइ, तस्स अह नो भणिज्जे मं ॥३६॥

अर्थ—उस प्रकरणार्थ को कहते हुए यदि दूसरा कोई भी सम्यक्त्वी या मिथ्यात्वी मनुष्य प्रकरण संबंधी या ओर भी कुछ पूछता है उस बातको प्रकरण व्याख्याता श्रावक यदि जानता है, तो वह कह सकता है। अगर नहीं जानता है, तो न कहे, साथ ही यह बात कहे—।

मूल—एयं खलु गीयत्थे, गुरुणो पुच्छिय तओ कहिसामि ।

इय जुत्तीए सङ्गो, भवभीरु कहइ सङ्गाणं ॥३७॥

अर्थ—श्री गीतार्थ गुरुओंको पूछकर बाद में इस तुम्हारे प्रश्न का जवाब दूंगा। इस युक्ति से भवभीरु श्रावक दूसरे श्रावकों को कहे। अर्थात् मन घड़त जबाब न देकर सदगुरु का आश्रय ले।

पौषध प्रश्नः—सभी दिनों में पौषध ग्रहण करना चाहिये या प्रति नियत दिनों में ही ? क्यों कि कई लोग कहते हैं—कि-सामग्री के सद्व्याव में सदा ही श्रावक को पौषध लेना चाहिये। प्रति नियतदिन के भरोसे प्राप्त समय सामग्री को निष्फल नहीं जाने देता नहीं चाहिये। ज्ञाता सूत्र में नन्दमणिकार सेठ ने तीन दिन का पौषध किया था। यह नहीं हो सकता कि वे तीनों दिन प्रति नियत पर्वहिन ही थे।

इसीके प्रतिवाद में दूसरे लोग कहते हैं—कि हमेशा पौषध नहीं लेना चाहिये। विशिष्ट कालमें आचरणीय होने से पौषध ग्यारहवां व्रत एवं चौथी प्रतिमा होने से विशिष्ट काल में ही अनुष्ठान के योग्य है। क्यों कि पूर्वाचार्यों ने व्रत को पर्वानुष्ठान रूपसे बताया है। उत्तराध्यन सूत्रके नवमाध्यन की वृत्तिमें—पौषधो अष्टम्यादि सु व्रत विशेषः—आवश्यक चूर्णिमें—सभी काल पर्वों में तपोयोग बताया है एवं अष्टमी पूर्णिमा आदि में नियम से पौषध लेना चाहिये ऐसा बताया है। होइ चउत्थी चउहसी अट्ठमी माईसु दिवसेसु पोसहं। जो जो सदनुष्ठान होता है वह सदा आचरणीय हो होता है ऐसा नियम नहीं है, क्यों फाक्षिक आदि प्रतिक्रमणादि सदनुष्ठान सदा नहीं किये जाते। ज्ञाता सूत्रमें नन्दमणिकार सेठने तीन दीन पौषध लिया हो ऐसे सूत्राक्षर नहीं है। अट्ठमभत्त के तीन दिनों में जो अंतका पूर्णिमा का दिन था उसमें पौषध लिया था। वह पर्व दिन ही होता है। तीन दिनकी प्रतिमा में तीसरे दिन कार्योत्सर्ग होता है। वैसे इस प्रकार दो मतों के रहते जिज्ञासु प्रश्न करता है कि पौषध कब करना चाहिये ? इसके जवाब में कहते हैं—

मूल—उद्घट्टमि चउद्वसि पंचदसमी उ पोसहदिणंति ।

एयासु पोसहवयं संपुन्नं कुणइ जं सङ्गो ॥३८॥

अर्थ—उद्घट्टा—अष्टमी अमावस्या पूर्णिमा ये पौषध ग्रहण करने के दिन हैं इन तिथियों में श्रावक सम्पूर्ण-चारों प्रकार के पौषधों को करता है। दशाश्रुत स्कंध चूर्णि में

उहिंडा—अमवस्सा इति । एवं सूत्र कृतांगसूत्र को वृत्ति में चाउहसद्गुहिठ—पुण्णमासि-णीसु-इत्यादि की व्याख्या में श्रीशोलांकाचार्य जी महाराज ने—उहिष्टासु महा कल्याणिक सम्बन्ध तथा पुण्य तिथित्वेन प्रत्याख्यातासु इति-अर्थात् उहिष्ट शब्द से कल्याणक वा पुण्य हिथियें को बताया है ।

प्रश्न—अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियें में और महाकल्याणकों में एकासन आदि तप करने का नियम लिया हुआ हो । और अष्टमी आदि तिथियें का महाकल्याणक से सम्बन्ध हो जाय तो तिथियें का—एवं कल्याणक सम्बन्धी तप कैसे करना चाहिये ?

**मूल—जइ कहवि अट्ठमी, चउद्दसीय तत्थविय होइ वयजोगो ।**

**वयददेणं भण्णइ नियमो कल्लाणमाइओ ॥३९॥**

**मूल—तसंजोगा जो कोवि गुरुतरो निवियाइओ नियमो ।**

**सो कायवो जं निवियंति एकासणा गस्यं ॥४०॥**

अर्थ—यदि किसी प्रकार से अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियें में ही वृत योग होता है । ब्रत शब्द से कल्याणक आदि में कराता हुआ नियम कहा जाता है तो पर्व तिथियें में उसके संयोग से एकासन आदि तप करने वालों को निविगयादि गुरुतर बड़ा नियम करना चाहिये । अर्थात्—एकासन वाले को नीत्री, नीत्री वाले को आयंविल और आयंविल वाले को उपवास करना चाहिये । क्यों कि एकासने से नीत्री बड़ी होती है ।

प्रश्न—सामायिक लेकर प्रतिक्रमणादि करते हुए विजलीका-कच्चे पानी आदिका संघटा हो । उस विराधना शुद्धिके लिये—“तेउकाय-अपकाय के बहुत संघटे हुए”—ऐसे सामान्य कथन से आलोचना “इतने छोटे संघटे हुए इतने बड़े”—ऐसा विशेष ख्याल रख कर आलोचना करे ?

**मूल—पडिक्कमणं च कुणांतो, विज्जुपईवाइएहिं जइ कहवि ।**

**वारादो चउ फुसिओ, तो बहु फुसिओ त्ति आलोए ॥४१॥**

अर्थ—प्रतिक्रमण एवं पठन पाठानादि करते हुए सामायिक में किसी भी कारण से विजली-दीपक-बर्पादके छीटे आदि से यदि दो तीन चार बार संघटा हो जाय तो—“आज सामायिक में मेरे बहुत संघटे हुए”—ऐसा ध्यान रखकर आलोचना करे । सदूगुरु महाराज से सादर दिवेदन करे ।

आलोचना की विशेषता बताते हैं—

**मूल—जइ कोवि होइ दक्खो, ता जावइयाणि हुंति फुसणाणि ।**

**तावइयाणि गणिज्ञा, अतिमुद्धो जो बहुं भण्णइ ॥४२॥**

अर्थ—यदि सामायिक करने वाला व्यक्ति कोई चतुर हो तो जितनी बार स्पर्श हुआ हो उतनी बार गिनती करके आलोचना करे। एवं अगर वह अतिमुग्ध स्वभावका है तो “बहुत से स्पर्श हुए”—ऐसा कहकर आलोचना करे।

वृत्तिकार के प्रासंगिक प्रश्नोत्तर—

प्रश्न—सामायिक में सूर्यचन्द्र प्रभा का संघटा क्यों नहीं माना जाता।

उत्तर—सूर्य चन्द्र प्रभा का स्पर्श होता है पर विराधना नहीं होती। प्रभा अचेतन होने से।

प्रश्न—सिद्धान्त में सूर्य-चन्द्र की प्रभा को भी सकर्मकता से सचेतनता के जैसा सूचित किया है या न ? जैसे कि—भगवती सूत्र में—“अतिथिं भंते ? सकम्मलेसा पुगला ओभासंति ? हंता अतिथ + × × जा इमाओ चंदिम सूरियाणं देवाणं विमाणेहिंतो लेसाओ बहिया अभिनिस्सदाओ पयाविति + × ते सरूपी सकम्मलेसा पुगला ओभासंति”—इस सूत्र में चन्द्र सूर्य से बादर अभिनिस्सृत प्रकाश पुद्गलो को सकर्म लेश्या वाले बताये हैं। कर्म-लेश्या उनकी सचेतनता की सूचक है। सचेतन संघटे में विराधना क्यों नहीं माना जाय ?

उत्तर—चन्द्र सूर्य के प्रकाश में कर्म और लेश्याओं का कथन उपचार मात्र है यथार्थ में नहीं। क्योंकि इसकी टीकामें भगवान अभयदेवसूरिजो महाराज फरमाते हैं कि—“यद्यपि चन्द्र आदि विमान के पुद्गल पृथ्वीकाय रूप होने से सकर्म लेश्या वाले हैं ही ! परं तन्निर्गत प्रकाश पुद्गल तद् हेतु रूप से उपचार से सकर्म लेश्या वाले जानने चाहिये”। प्रकाश पुद्गल अजीव होने से विराधना नहीं होती।

फिर कितनेक जीवों के उद्योत नाम कर्म का उदय होता है जिससे कि उनके दूर रहते हुए भी अनुष्ण प्रकाशात्मक उद्योत होता है। जैसे यति-देवोत्तर वैक्रिय चन्द्र-ग्रह नक्षत्र तारा औषधि-मणि-रत्न आदि में देखा जाता है। तथा कितनेक जीवों के आताप नाम कर्म होता है जिसके उदय से उनके शरीर दूर रहते भी उष्ण प्रकाश रूप-आतप को कहते हैं। जैसे कि सूर्य विम्ब। इस हालत में उनके प्रकाश के स्पर्श से विराधना नहीं हो सकती।

प्रश्न—उनके दूर रहने पर उनके उद्योत—आतप से यदि विराधना नहीं होती तो-दूर रहे हुए विजलों दीपक आदि से अग्निकाय की विराधना उनके प्रकाश के संघटे से कैसे लगेगी ?

उत्तर अग्निकाय में न आतप नाम कर्म है, न उद्योत नाम कर्म है। क्यों कि उनका स्वभाव ही ऐसा है। उष्ण स्पर्श और लोहित वर्ण नाम कर्म के उदय से अग्निकाय के जीव ही प्रकाश वाले होते हैं। और इधर उधर विलरते हैं। उनमें प्रभा-प्रकाश होता है। वह

उन जीवों का ही होता है। अर्थात् अग्निकाय के शरीर से दूर प्रभा प्रकाश नहीं होता अतः उनके दृश्यमान प्रकाश को सचेतन माना जाता है और इसीलिये अग्निकाय के स्पर्श होने पर विराधना संभवित है। अतः आलोचना करनी चाहिये ।

प्रश्न—आलोचना करते समय प्रायश्चित्त रूपसे श्रीगुरुमहाराज यदि सज्जकाय करना जनावें तो वह सज्जकाय हमेशा के नियम से होती है वह मानी जायगी ? या उस से अधिक सज्जकाय-स्वाध्याय-पूर्व पठित अपठित पाठ-आगम-प्रकरण आदि पढ़ना चाहिये ?

**मूल—पद्मदिवसं सज्जाए, अभिग्ग हो जस्स सयसहस्रार्द्ध ।**

**सो कम्मक्खयहेऽ, अहिगो आलोयणाए भवे ॥४३॥**

अर्थ—प्रतिदिन दो—हजार या अधिक श्लोकों के स्वाध्याय को करने का जिसके अभिग्रह है, वह—कर्म क्षयका कारण ही है। परन्तु आलोचना में प्रायश्चित्त रूप से जो स्वाध्याय करना हो, वह सदा से अधिक होना चाहिये ।

प्रश्न—पांच तिथियों में यदि एकासना आदि तपका नियम है। और वह तप होता भी है। परन्तु आलोचना के कराने पर यदि उस अभिगृहीत तप से कोई बड़ा तप करे। जैसे एकासने का अभिग्रह है और आलोचना का तप करता है अगर आयंविल या उपवास कर लिया जाय तो वह तिथि के अभिगृहीत तपमें गिना जायगा या आलोचना में ?

**मूल—एग्रासणार्द्ध पंचसु तिहीसु जस्सत्थि सो तवं गरुयं ।**

**कुणार्द्ध इह निविव्यार्द्ध, पविसार्द्ध आलोयणार्द्ध तवे ॥४४॥**

अर्थ—द्वितीया-पंचमी-अष्टमी-एकादशी-चतुर्दशी इन पांच तिथियों में एकाशन आदि तप करने के जिसके नियम है। वह व्यक्ति अगर अपने अभिगृहीत तपसे अधिक तप नीबो आदि करता है तो वह तप आलोचना तपमें प्रविष्ट होता है। क्योंकि मानसिक परिणामों की प्रधानता मानी जाती है।

इस सम्बन्धमें अति प्रसंग को रोकने के लिये बताते हैं—

**मूल—जइ तं तिहिभणियतवं अन्नत्थदिणे करिज विहिसज्जो ।**

**अइ ण कुणार्द्ध जो सो गुरुतवो वि जं तिहि तपे पड़इ ॥४५॥**

अर्थ—यदि सुविहित विधिपालन में तत्पर महानुभाव उस तिथि निर्दिष्ट तप को दूसरे दिन करले, तो उपर वाली बात ( कि-गुरु तप आलोचना में जाता है— ) होती है ।

१—इस सम्बन्ध का अधिक स्पष्टी करण इसके टीकाकार ने किया है जिज्ञासु टोका देखें। अनु:

अगर दूसरे दिन तिथितप को नहीं करता है तो वह बड़ा तप भी आलोचना में न जाकर तिथि तप रूप से ही माना जायगा ।

प्रश्न—आवश्यक चूर्णि में बताया है कि “सामायिक करता हुआ श्रावक मुकुटका त्यागकरे कुण्डलों को नाम मुद्रा को तंबोल को प्रावारक—वस्त्र आदि का त्याग करे”—सो सामायिक पौषध को ग्रहण करता हुआ गृहस्थ निष्पावरण रहे या कभी कुछ कपड़ा ग्रहण भी करे ? अगर ग्रहण भी करे तो कितने प्रावरणों को ग्रहण करे ?

मूल—उसगग्नयेण सावगरस परिहाणसाडगादवरं ।

कप्पइ पाउरणाइं न सेसमववायओ तिणि ॥४६॥

अर्थ—उत्सर्ग मार्ग से श्रावक को पहिनने की धोती से भिन्न अधिक कपड़ा नहीं कल्पता है । परन्तु अपबाद मार्ग से तीन कपड़े ओढ़ने के लिये ले सकता है । क्योंकि सामायिक में श्रावक साधु के समान होता है ।

मूल—एवं क्यसामाइया वि साविगा पठमनयमएणेह ।

कडिसाडग कंचुयमुत्तरिज्ज वत्थाणि धारेइ ॥४७॥

अर्थ—इसी तरह सामायिक करनेवाली श्राविका भी उत्सर्ग मार्ग से कटिशाटक-लहेंगा कंचुकी और साडी ये तीन वस्त्र धारण कर सकती हैं ।

मूल—बीयपएणं तिष्ठुवरि तिहिं उ वत्थेहिं पाउअंगी उ ।

सामाइयवयं पालइ तिपय परिहरइ पडिक्षमणे ॥४८॥

अर्थ—दूसरे-अपवाद मार्ग से लहेंगा—कंचुकी और साडी इन तीन वस्त्रों के उपर शीतताप निवारणार्थ ओढ़ने के तीन अधिक वस्त्रों से ढके हुए अंगवाली सामायिक व्रत को श्राविका पालती है । परन्तु प्रतिक्रमण के समय त्रिपद—अपवाद सेवा को छोड़ देती है ।

मूल—जइ कंचुगाइ रहिया, गिष्ठइ सामाइयं च सुमरिज्जा ।

तो पच्छा अंगडं करेइ गरहेइ पुव्वकयं ॥४९॥

अर्थ—यदि श्राविका कंचुकी से रहित भूल से सामायिक ग्रहण कर लेती है, और बादमें याद आता है, तो पीछे से भी अंग ढक लेना चाहिये । उस अवस्था में की हुई क्रिया अविधि मानी जाती है इसलिये उस पूर्वकृत अविधि की गहरा निंदा करे ।

मूल—एलामुत्थाइगयं भिन्नं भिन्नं जलं भवे दब्बं ।

वण्णरसभेयओ जं, दब्बविभेओ वि समयमओ ॥५०॥

अर्थ—एक ही भाजन से लिया हुआ परन्तु इलायची-मुस्ता आदि जुडे २ द्रव्यां से वासित किया हुआ पानी जुहा जुहा द्रव्य होता है। क्योंकि वर्ण रस गंधादि भेद से द्रव्य भेद होना सिद्धान्त संमत है।

प्रश्न—जुडे २ भाजनों में जुडे २ द्रव्यों द्वारा वासित एक ही स्थान का पानी जुडे २ द्रव्य रूप में माना गया यह ठीक परन्तु औषध करने वाले श्रावक या श्राविका वैसा पानी अपने २ घर से लाकर पौष्ठ शाला में एक ही घडे में डाल दें बाद में वह पानी एकद्रव्य रहेगा या अनेक द्रव्य ?

मूल—जइ पोसहसालाए सडूसडू वि पोसहम्मि ठिया ।

एगत्थ खिवंति भवे, तमेग दव्वं न संदेहो ॥५१॥

अर्थ—यदि पौष्ठ शाला में श्रावक लोग या श्राविकाएँ पौष्ठ में रहे हुए अपने २ घर से लाये हुए पानी को यदि किसी एक पात्र में डाल देते हैं तो वह सारा पानी एक द्रव्य हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रश्न—जिसने चार कोश तक जाने की अपने नियम में छूट रखी है, परन्तु वह एक कोश भी नहीं जाता, तो उसको कर्म बंध होता है या नहीं । क्योंकि सुना जाता है कि—कृतया एवं क्रिया कर्म बंध; न अकृतया—अर्थात् की हुई क्रिया से ही कर्म बंध होता विना किये नहीं होता । तो ठीक क्या समझना ?

मूल—जेण दिसापरिमाणं कोसचउक्तं दुगं च कयमित्थ ।

कोसद्धं पि न गच्छह तह विहु बंधो तथ विरइओ ॥५२॥

अर्थ—जिसने दिशा परिमाण ब्रतमें चार कोश या दो कोश का क्षेत्र जाने आने को सुला रखा है और वह व्यक्ति कभी आधा कोश भी नहीं जाता है। तो भी उसके अविरति से पैदा होने वाला कर्म बंध होता ही है। क्रिया से कर्म बंध का उतना तालुक नहीं जितना कि परिणामों से। कर्म बंध में मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये चार हेतु होते हैं।

प्रश्न—मथा हुआ दही विथय है या उत्कट द्रव्य ? अगर विगय है तो कैसे भी उत्कट द्रव्य होता है, या नहीं ? अगर होता है, तो निविगय के पञ्चखाण में कल्पना है, या नहीं ?

मूल—जह गालियं च दहियं, तहावि विगई जलंन जं पडइ ।

पडिए वि जले तं तिव्वयंमि, विहिए न कप्पइ य ॥५३॥

अर्थ—यदि दहि वस्त्र से गाला गया हो और मथा गया हो तो भी विगय ही है,

जब तक कि उसमें जल नहीं पड़ता है। जल के गिरने पर भी निविगय का पञ्चवाण करने पर वह घोल नहीं कल्पता है।

**मूल—जइ मंडियाइ जोगो पायकओ कोवि होइ गुडचुणो ।**

**उव्वगइ सो वि नियमा गुडविगई होइ अनुवहत ॥५४॥**

**अर्थ—यदि मंडिका—पक्कान विशेष सेवैया लड्डु, कसार आदि खाद्य पदाथो की लिये गुड़ सम्बन्धी कीर्दि पात ( चासनी ) होती है वह नियम से गुड़ विगई ही अनुपहत भावसे बनी रहती है। जैसा कि 'प्रवचन सारोद्धार' में कहा है:—**

अद्ध कङ्गितेक्खुरसो गुडपाणीयं च सकरा खंडं

पायगुलं गुलविगई विगइगयाइ तु पंचेवन्ति ॥

जब वह पात मंडिकादि खाद्य द्रव्यों से संबंधित की जाती है। अथवा सृंठ आदि से मिलाई जाती है। तब वह गुड विकृति नहीं रहती।

**प्रश्न—पहले कहा गया है कि वर्ण, रस भेद से एक द्रव्य के भी कई भेद बन जाते हैं तो नाना जाति के रूप से अनेक देशोत्पन्न रूपसे नया पुराना आदि भेद से जुदे जुदे वर्ण रसबाले सुपारी आदि द्रव्यों में अनेक द्रव्यता का प्रसंग उपर्युक्त होगा और इसका प्रकार उपभोग व्रत में द्रव्य संरूप्या का अतिक्रम क्या नहीं होता ? ऐसे द्रव्योंको सदा ही एक दिन में कई बार भोगे जाते हैं। विवाहादि उत्सवों में तो कहना ही क्या ?**

**मूल—सव्वाइं पुण्फलाइं नाणाविहजाइरसविभिन्नाइं ।**

**पुण्फलमेगं दब्बं उवभोगवयम्मि विन्नेयं ॥५५॥**

**अर्थ—उपभोग द्रव्य परिमाण व्रत में नाना प्रकार की जाती, रस विभिन्न पुण्फलादि-सुपारी आदि सभी द्रव्य अपनी अपनी जाती में सुपारी आदि एक द्रव्य रूपसे जानना चाहिये।**

**प्रश्न—अनेक जाति रस वाले पुणीफल-सुपारियों को ही एक द्रव्य से मानना चाहिये या दूसरे द्रव्योंको भी ?—**

**मूल—एवं जलकणघयतिलललोण विभिन्नाइं विविहजाइगयं ।**

**एगं दब्बं परिगह पमाणवयगहियगणणाए ॥५६॥**

**अर्थ—इसप्रकार सुपारी के जैसे नानाप्रकार का जात, धन्य-कण, धी तेल नमक आदि अनेक देशोत्पन्न असमान वर्ण रस वाले जुदे जुदे होने पर भी परिग्रह परिमाण व्रत की गिनती में अनेक रूप जात्याहित एक द्रव्य रूप से मानना चाहिये। जैसे आकाशका भूमिका नदीका जल भिन्न होने पर एक जल द्रव्य रूप से स्वकारना चाहिये।**

प्रश्न—उपवास आदि के करने पर बालक आदि का मुखचुम्बन करते हुए प्रत्याख्यान भंग होता है या नहीं ?

मूल—गब्भरूपपुहाणं वयणं चुम्बइ कओपवासाई ।

तस्स उ पच्चक्खाणे भंगो संभवइ जुत्तीए ॥५७॥

अर्थ—उपवास आदि तप करने वाला व्यक्ति वच्चे आदिकों के मुखको चुमता है, तो उसके प्रत्याख्यान में युक्ति से भंगका सम्भव है ।

मूल—दहितरमज्ज्ञविखत्तो गोहुम चुण्णोय पक्कविगई उ ।

सिद्धो लग्गइ नियमो तह वीसंदणमओ विगई ॥५८॥

अर्थ—गेहूं का आटा धो से भावितकिया हुआ दही की थर से सान कर बड़ों के रूप में धी की कडाहो में पकाया हुआ भोजन विशेष नियम से पक्कान्न विषय में माणना चाहिए—विस्यन्दन को भी विगय ही समझना चाहिये ।

प्रश्न—समायिक धारी विजली व दीपक के प्रकाशसे जब स्पृष्ट होता है और जब स्त्री से या तिर्यंचणी से संघटृत होता है तब विजली के स्पर्श से दीए का स्पर्श और औरत के स्पर्श से तिर्यंचणी का स्पर्श भिन्न है या अभिन्न ?

मूल—विजुयपईवेणं फुसिओ तं फुसणयं तओ हुज्जा ।

भिन्नं भिन्नं नारीमंजारीणं च संघटणं ॥५९॥

अर्थ—विजली का प्रकाश और दीपक का प्रकाश सामायिकधारी के शरीर पर पड़ने से तेउकाय का स्पर्शन होता है । फिर भी दोनों का प्रायश्चित्त भिन्न २ है । उसी प्रकार स्त्री और बिल्ली के लूने से स्त्री स्पर्शन होता है । पर दोनों में बड़ा अन्तर है ।

प्रश्न—जलमें भिजाने मात्र से धान्यको विरुद्धक कहते हैं या जिसमें भिग जाने के बाद अंकुरे फूट निकलते हैं उसको विरुद्धक कहते हैं ।

मूल—पयडं कुरं तु धन्नं जलभिन्नं तं तु भण्णइ विरुद्धं ।

सेसं जलभिन्नं पि हु चणगाइ विरुद्धमवि न भवे ॥६०॥

अर्थ—जलमें भिजाये हुए जिस धान्य में अंकुर प्रकट हो चुके हैं उसको विरुद्ध कहते हैं । बाकी का जलमें भिगोया हुआ चणा—आदि धान्य विरुद्ध भी नहीं होता ।

प्रश्न—भुजे हुए विरुद्धक-भिगोए हुए सांकुर धान्य सचित्त होते हैं या अचित्त । यदि अचित्त हैं तो भी विरुद्धक ब्रती उसको खा सकता है, या नहीं ?

**मूल—भुगानि विरुद्धाणि य हुंति अचिताणि तह विरुद्धनियमो ।**

**ताणि न फुक्खइ तह फुट्कक्कडी असइ न हु साहु ॥६१॥**

**अर्थ—** भुंजे हुए विरुद्धक धान्य अचित्त ही होते हैं फिर भी विरुद्धक धान्य तु खाने का ब्रती उसको न खावे । सचित्त ब्रती प्रवृत्ति दोषमय से न खावे ।

**प्रश्न—** अति पकी ककडी-फुट सचित्त नहीं कही जाती किन्तु बीजवाली होने से सचित्त प्रतिबद्ध होती है—उसमें से यदि बीज हटा दिये जायें तो । सचित्त का त्यागी श्रावक उसे खावे या न खावे ?

**उत्तर—** अतिपकी ककडी—फुट फटी हुई होने से उसमें सर्प आदि के गरल—विष की संभावना हो सकती है इस लिये साधु भी न खाय तो श्रावकका तो कहना ही क्या !

**प्रश्न—** फटी हुई ककडी फुट तो कोई ही होती है । सबमें विषकी संभावना नहीं होती तो सभी का निषेध क्यों किया जाता है ?

**मूल—जइ वायंगणपमुहं पि तीमणं सथा अचित्तमपि न जई ।**

**हिणहइ पवित्रि दोसं सम्मं परिहरितं इच्छन्तो ॥६२॥**

**अर्थ—** यद्यपि बैंगन आदि का बनाया हुआ साग अचित्त ही होता है फिर भी साधु प्रवृत्ति दोष को भली प्रकार से तागने की इच्छा से ग्रहण नहीं करता है । उसी तरह फुट-ककडी अचित्त होने पर भी सचित्त त्यागी श्रावक प्रवृत्ति निषेधार्थ ग्रहण नहीं करते ।

**प्रश्न—** जिस नागरमोथ आदि द्रव्य से एक दिन में जल को अचित्त किया उसी द्रव्य से दूसरे दिन भी यदि अचित्त किया जाय तो वह जल छठ-अट्टम आदिके पच्चक्खाण करने वाले श्रावक को पीना कल्पता है या नहीं ? **चतुर्थभक्त—** एक उपवास के जैसे छठ अट्टम में भी एक ही द्रव्य मोकला रखा होने से ।

**मूल—जीए मुत्थाइकयं अज्जेव जलं तु फासुगं तीए ।**

**कल्लेव कीरहइ जइ तमेगदव्यं न संदेहो ॥६३॥**

**अर्थ—** १ जिस मुस्ता-नागर मोथ आदि उत्कट वर्ण गंध रसान्यतर गुणवाले द्रव्य से किया हुआ प्रासुक जल आजके उपवासी को कल्पता है । उसी मुस्ता आदि द्रव्यसे कल-परसों भी यदि जल को प्रासुक किया जाय तो वह एक ही द्रव्य माना जाता है । इसमें कोई सन्देह नहीं । जुदे २ घडों में भी एक द्रव्य से प्रासुक किया हुआ जल भी एक ही द्रव्य माना जाता है ।

**नोट १—** इस श्लोक की टीका में उकासे हुए पानी के जैसे ही त्रिफला आदि से प्रासुक किये पानी का उपयोग तर्क संगत एवं आगम संगत लगाया है । बड़ी लम्बी चर्चा में श्रावक को उकाला हुआ पानी ही प्रत्याख्यान में पीना चाहिए ऐसे एकान्त पक्षका खण्डन किया गया है । वर्तमानमें गरमपानी का जितना प्रचार हुआ है उतनी ही साधु विहार में विकटता पैदा हो गई है । विद्वान् लोग इस श्लोक की टीका को पढ़कर प्रासुक जान विधि का प्रचार करें तो विहार की एक बड़ी बाधापार हो सकती है ।

प्रश्न—समय पर मुख वस्त्रिका न पड़िलेही गई हो तो उस से सामायिक ग्रहण करना कल्पता है या नहीं ?

मूल—अप्पडिलेहि य मुहण्ठंगे य, सामाइयं करिज्जा उ ।

अविहिकए पच्छित्तं, थोवं तेणं पडिक्कमइ ॥६४॥

अर्थ—अपडिलेही हुई मुहपत्ती से—उपलक्षण से आसन-पौष्ठशाल आदि अप्रतिलिखित हों तो—भी सामायिक-पौष्ठ आदि किया जाता है। न करने से तो नियम भंग ही होता है, जो महा दोष का कारण है। अविधि से करने पर तो थोड़ा प्रायश्चित्त होता है, जो प्रतिक्रमण से निवृत्त हो सकता है।

प्रश्न—सामायिक ग्रहण करते हुए, सामायिक सूत्र उच्चारण के बाद तेजस्काय का स्पर्श हो जाय तो सामायिक का भंग होता है या नहीं ?

मूल—सामायिक-सुत्तम्मि उच्चरिए कहवि होइ जइ फुसणं ।

तो तं आलोएज्जा, भंगो से नत्थि समाइए ॥६५॥

अर्थ—‘करेमि भंते’—सामायिक सूत्र के उच्चारण करने पर किसी प्रकार से यदि अग्निकाय का स्पर्शन हो जाय तो उसके लिये इरियावही आलोचना करना करनी चाहिए। गुरुदत्त प्रायश्चित्त लेना चाहिए। ऐसा करने से उस स्पर्शन से सामायिक में भंग नहीं होता।

प्रश्न—पक्व अपक्व दो दलबाला अनाज गोरस से मिलने परसं मूर्च्छमजीव बाला हो जाता है, वैसे ही पक्व अपक्व गोरस के साथ दो दलबाला अनाज खाना कल्पता है या नहीं ?

मूल---उक्कालियम्मि तक्के, विद्लक्खेवे वि नत्थि तदोसो ।

अतत्तगोरसम्मि, पडियं संसप्पए विदलं ॥६६॥

अर्थ—गरम किये हुए दही छाछ आदि गोरस में बेसन दाल आदि द्विदल अनाज के डालने से तज्जन्य-आहार में जीव विराधना रूप दोष नहीं होता है। कच्चे गोरस में द्विदल अनाज के डालने से जीव-संमूर्च्छम सूक्ष्म त्रस जीव पैदा होते हैं। जैसा कि—कल्पभाव्य में फरमाया है—“आम गोरसुम्भीसं संसज्जेऽय अइरा तहवि हु नियमा दु दोसायत्ति”—अर्थात्-कच्चे गोरस में द्विदल मिलाने से जलदी समुच्छम जीव पैदा होते हैं। उससे स्वास्थ्य और संयम की विराधना रूप दो दोष पैदा करते हैं।

प्रश्न—अनेक रसबाली अनेक वस्तुओं को कढाई में तली जायें तो वह विगय मान जायगी, या उत्कट द्रव्य ?

मूल—गोहुमध्यगुलदुद्धाणि मेलिउं तो कडाहगे पयइ ।

तं धणुहुज्जा पक्कन्नविगइ नियमा न दव्वं तं ॥६७॥

अर्थ—गेहूं- घृत-गुड-दूध आदि को मिलाकर कड़ाही में तला जाता है, जिसको कि नागोर के आस पास-सोलख पट्टी में “धणु हुज्जा”—गुडधाणी-लापसी जैसी वस्तुएं नियम से पक्कान्न-विगय होती है । न कि उत्कट द्रव्य मात्र ।

प्रश्न—किसी श्रावक की परिग्रहपरिमाण प्रमुख नियम पोथी को देखकर कोई भद्र श्रद्धालु उसी समय उन नियमों को स्वमति कल्पना से स्वीकार ले । बाद में सद्गुरु के सत्संग में उस विचार को सुने, उस समय यदि नियम भंग की संभावना से किसी प्रकार की छूट करना चाहे तो कर सकता है या नहीं ?

मूल---जइ कोवि अमिगगहिओ टिप्पणयं अन्नसावयगगहियं ।

पालिंतो वि हु तं सुगुरुदंसणे कुणइ मुक्कलयं ॥६८॥

अर्थ—यदि कोई धर्म श्रद्धालु आभिग्रहिक स्वेच्छा से अन्य श्रावक गृहित परिग्रह परिमाण के टीपने को देख कर टीपणे की व्यवस्था का अनुकरण करता हुआ परिग्रहपरिमाण का पालन करता है । वही सुगुरुदर्शन के बाद यदि नियम में छूट करना चाहे तो कर सकता है ।

प्रश्न—जिस आसन शयन पर काफी देरतक बैठा सोया जाय उसी की भोगोप भोग व्रत में संख्या गिननी चाहिये ? या क्षण मात्र भी सोया बैठा जाय उन सबकी संख्या गिननी चाहिये ?

मूल—जत्थासणे निसन्नो, खणं पि तं लग्गए उ संखोए ।

जत्थ कडिं पि हु दिज्जइ, गणिज्जए सा वि सिज्जति ॥६९॥

मूल—तो वहुकज्जपसाहणकए-वि परिभमइ सुबहुठाणेसु ॥

सो सयणासणमाणां लझ्वइ जइ कुणइ किर थोवं ॥ ७० ॥

अर्थ—जिस आसन पर थोड़ा सा भी बैठा गया हो, जिस शय्यामें थोड़ी सी भी कमर सीधी की गई हो, उस आसन शयन की संख्या ब्रती करनी—चाहिये । + + + इस लिये बहुत से कामों की साधना में या यों भी घुमते हुए अपने लिये शयनासनों की संख्या अधिक रखनी चाहिये । यदि थोड़ा प्रमाण रखा जाय तो व्रत लंघन-भंग का दोष होता है ।

प्रश्न—अनेक जाति के चाँचल आदि अलग २ पात्रोंमें पके हो तों एक द्रव्य होता है, या अनेक द्रव्य ?

मूल—नाणाजाइसंमुभवतंडुलसिद्धं पुढो भवे दव्वं ।

निच्छयनयेण ववहारओ नये दव्वमेगं ति ॥७१॥

अर्थ—अनेक जाति के चाँचलों से बना हुआ [भोजन निश्चय नय से अलग द्रव्य और व्यवहार नय से एक द्रव्य रूप होता है ।

प्रश्न—पर्श्वस्थादिकों के साथ रहने का और उन से आलोचना लेनेका पंचाशक वृत्ति में महाश्रुतधरश्रीमद्भयदेवसुरिजी महाराज ने विधान किया है । तो उन पार्श्वस्थादिकों को बंदना करनी चाहिये या नहीं ।

मूल—पंचासगेसु पंचसु वंदणगा नेव साहु सड्डाणं ।

लिहिया गीयत्थेहि अन्नेसु य समयगंथेसु ॥७२॥

अर्थ—यतिधर्म पंचाशक में और आलोचना पंचाशक में पासत्थे, ओसन्ने, कुशी-लिये, संसकते, और यथाच्छन्दे इन पांचप्रकार के नाम साधुओं को सुविहि साधु और श्रावकों कु वन्दना नहीं बताई है ।

मूल—देवालयम्मि सावयपोसहसालाइ सावगणेगे ।

जइ हुंति तेवि तिपण्डु साविया जंति निसुणंति ॥७३॥

अर्थ—मन्दिर में श्रावक पौष्टिकशाला में या ऐसे ही स्थानोंमें जहाँ कि सुविहित आधुओं के उपदेश होते हैं । वहाँ यदि अनेक श्रावक वे भी आठ पाँच या कम से कम तीन मौजूद हों तौ श्राविकाएं जाती हैं और व्याख्यान सुन सकती है ।

प्रश्न—जिस प्रदेशमें सुविहित साधु नहीं होते हैं, वहाँ श्रावक जो कुछ प्रकरणादि धार्मिक विचारों को जानता है, वह दूसरे लोगों को उपदेश रूप में कहे या नहीं ?

मूल—जत्थ न हु सुविहिया हुंति, सहुणो सुविहिया वि ते इत्थ जे ।

गीयत्थसुक्तत्थ—देसगा तेसि विरहम्मि ॥७४॥

मूल—जं मुणइ सावओ तं कहेइ सेसाणं कि न जं पुट्ठं ।

पच्चुक्तरमेयं तत्थ कहइ जइ सो वि याणइ तं ॥७५॥

अर्थ—आगमों में सुविहित-क्रियापात्र साधु—वे भी गीतार्थ के एवं सूत्र और अर्थ के उपदेशक हों ऐसे—साधु जिस देशमें नहीं होते हैं, वहाँ सुविहित एवं गीतार्थ गुह की दयासे-बहुश्रुत श्रावक प्रकरणादि विचारों को जानता है, वह दूसरे लोगों को व्याख्यान द्वारा

कह सकता है। किसी के द्वारा “क्या ऐसा है? क्या ऐसा नहीं है?”—इत्यादि रूप प्रभ किसी विषय में पूछा जा, उसे भी सुगुरु से समझा हुआ हो तो “यह ऐसा है। यह ऐसा नहीं है” इत्यादि जबाब दे सकता है।

इसी बात को भद्र जीवों के हित लिये स्पष्ट कहते हैं—

मूल---सुगुरुणं च विहारो, जत्थं न देसम्म जायए कहवि ।

पयरण वियार कुसलो, मुसावगो अतिथं ता कहउ ॥७६॥

अर्थ—जिस देशमें मार्ग आदि की विकटता आदि कारणों से सद्गुरुओं का विहार नहीं होता है, वहां प्रकरण विचार कुशल श्रावक यदि हो तो व्याख्यान कर सकता है।

प्रभ—जिस देशमें कारण वशात सुगुरु लोग नहीं पथारते हैं। वहां के निवासी स्थापना चार्य जी के सन्मुख आलोचना निमित्त तप करें या नहीं? और करें तो कैसा करें?

मूल—आलोयणानिमित्तं कहं तवं कुणइ साविया सङ्कुं ।

इयपुटे इणमुत्तरमिह भन्नइ भो निसामेह ॥७७॥

अर्थ—आलोचना-शुद्धि ग्रहण करने के लिये किस विधि से श्रावक श्राविका तप ग्रहण करें? ऐसा पूछने पर भो भव्य? सुनियं वह विधि यहां बताई जाती है।

मूल—पंच परमेष्ठिपुब्वं ठवणायरियं ठवितं विहिणाओ ।

तत्थ खमासमणदुगं, दाउं मुहपत्तिपेहणयं ॥७८॥

तत्तो दुआलसावत्तवंदणंते य संदिसाविज्जा ।

आलोयणातवं तो दिज्जा अण्णं खमासमणं ॥७९॥

एवं भण्णइ तत्तो करेमि आलोयणातवं उचियं ।

उस्सग्गेणं तत्तो कुणइ तवं अत्तसुद्धिकए ॥८०॥

अर्थ—आलोचना ग्रहण विधि—उचित स्थान में भूमिकी प्रमार्जना कर पंच परमेष्ठी नमस्कार मंत्र पढ़ कर विधि पूर्वक स्थापना चार्य जी को स्थापना करे। बादमें खमासमण देकर इच्छाकारेण संदिसह भगवन्? सोधि मुहपत्ति पहिलेहु दूसरा खमासमण दे मुहपत्ति पहिलेहण करे। बाद द्वादशावर्त्त वांदणा दोबार देवें। तदन्तर खमासमण देकर इच्छा कारेण संदिसह भगवन् आलोचणा तप संदिसाहुं?। दूसरा खमासमण दे इच्छा कारेण संदिसह भगवन्? आलोचणा तप करुं।

प्रभ—उक्त रीति से तप और स्वाध्याय दोनों करने में समर्थ आलोचक क्या तप ही करे? या तपो भेदरूप स्वाध्याय को ही?

मूल—सज्जायतवसमत्थो जइ सड्हो साविगा वि अह हुज्जा ।  
ता अणिगूहियविरिया, कुणंति तवमागमुत्तमिण ॥८१॥

अर्थ—स्वाध्याय और उपवासादि तप में श्रावक श्राविका समर्थ हैं तो शक्ति को नहीं हुपाते हुए आगमों में फरमाया हुआ आलोचनार्थ यह उपवासादिक तप ही करें । स्वाध्याय को तपोभेद माना जरूर है पर जीतकल्प चूर्णि में प्रायश्चित्त के भेदों में उसकी गिनती नहीं की गई है । कायोत्सर्ग भी तपभेद है फिर भी उसका “काउसग्गारिहं”—“तवारिहं” रूपसे अलग विधान किया है । “तवारिहं”—प्रायश्चित्त अनसन तप से ही होता है ।

यदि ऐसा है तो आलोचना में इतनी सज्जाय करना ऐसा क्यों कहा जाता है ? जीतव्यवहार से । तप में अशक्त मनुष्य शुद्धि के लिये स्वाध्याय भी कर सकता है यह एक-अपबाद है ।

प्रश्न—आलोचना तप करते हुए क्या क्या करना चाहिये ? गाथाष्टक में बताते हैं—

मूल—आलोअणानिमित्तं पारद्ध तवमिम फासुगाहारो ।

सच्चित्तवज्जणं बंभचेरकरणं च अविभूसा ॥८२॥

अर्थ—आलोचना निमित्त प्रारंभ किये हुये तप में प्रासुक आहार, सच्चित्त का त्याग ब्रह्मचर्य-पालन और अविभूषा—शृङ्गार त्याग करना चाचिये ।

मूल—इंगालाइ पनरसकम्मादाणाण होइ परिहारो ।

विकहोवहासकलहं पमाय भोगातिरेण च ॥८३॥

अर्थ—अङ्गार कर्म आदिक पनरहकर्मा दानों का, विकथा, उपहास, कलह प्रमाद और भोगों की अधिकताका भी त्याग करना चाहिये ।

मूल---कुज्जा नाहिगनिदं परपरिवायं च पावट्टाणाणं ।

परिहरणं अप्पमाओ, कायव्वो सुद्ध धम्मत्थे ॥८४॥

अर्थ—अधिक नींद नहीं लेनी चाहिये । पर निन्दा और पापस्थानों का परिहार करता चाहिये । शुद्ध धर्म कार्योंमें अप्रमाद सेवन करना चाहिये ।

मूल—तिक्कालं चियवंदणमित्थ जहन्नेण मज्जमेण पुणो ।

वारा उ पंच सत्तं च उक्षोसेणं फुडं कुज्जा ॥८५॥

अर्थ—आलोचना में जघन्य से त्रिकाल मध्यम भाव से पांच बार और उत्कृष्ट सात बार चैत्य वन्दन करे ।

मूल—पडिक्कमेणे चेइयहरे भोयणममयमिम तह य संवरणे ।  
पडिक्कमणसुयणपडिब्राहकालियं सत्तहा जहणो ॥८६॥

अर्थ—अहो रात्रि में १—प्राभातिक प्रतिक्रमण के अन्त में २—श्रीजिनमन्दिर में ३—प्रत्याख्यान पारने से पहिले ४—भोजन के बाद प्रत्याख्यान करने के पहिले ५—दैवसिक प्रतिक्रमण के प्रारंभ में ६—रात्रि संधारा पौरुषी पढ़ने से पहिले सोते समय ७—सोकर के जागने पर ऐसे सात बार साधुओं को चैत्य वन्दन करने होते हैं ।

प्रश्न—ग्रहस्थोंको सात—पांच-तीन बार चैत्य वन्दन कैसे होते हैं ?

मूल—पडिक्कमिओं गिहिणों वि हु सत्तविह पंचहा उ इयरस्स ।  
होइ जहन्नेण पुणो तीसुवि संज्ञासु इय तिविहं ॥८७॥

अर्थ—उभयकाल आवश्यक-प्रतिक्रमण करते हुए गृहस्थ को भी उत्कृष्ट रूपसे सातबार प्रतिक्रमण न करते हुए, मध्यम रूपसे पांचबार, और जघन्य रूपसे तीन संध्याओं में तीन बार चैत्य वन्दन करना चाहिये ।

मूल—सुसाहूजिणाणां पूयणं च साहम्मियाणं चितं च ।

अपुठ्र पठण-सवणं तदत्थ परिभावणं कुज्जा ॥८८॥

अर्थ—आलोचना करनेवाला सुसाधुओं को प्रतिलाभे । जिनेश्वरों की पूजा करे । साधर्मिकों का खयाल रखे । पहिले नहों पढ़ा ऐसा नया पाठ पढ़े, सुने, और उसके अर्थों का चिन्तन मनन निधि ध्यासन करे ।

मूल—रुद्धुं झाणदुगं, वज्जित्ता तह करिज्ज सज्जायं ।

आयारे पंचविहे सया वि अब्सुज्जमं कुज्जा ॥८९॥

अर्थ—आलोचना करनेवाला विषय वासना-जन्य आर्तध्यान, और हिंसा भावना जन्य रौद्रध्यान, इन दोनों दुर्ध्यानों का त्याग करे । हमेशा स्वाध्याय करे और ज्ञान-दर्शन चारित्र-तप और वीर्यरूप पांच आचारों के पालन में अति उत्साह दिखावें ।

X

X

X

दुष्कर क्रियामात्र को करनेवाला यदि उत्सूत्र भाषी हो तो उसको कुसंग से बचना चाहिये । यह बताते हैं—

मूल—उसुत्तभासगा जे ते दुष्कर कारगा वि सच्छुंदा ।

ताणं न दंसणं पिहु, कप्पाइ कप्पे जओ भणियं ॥

अर्थ—आगमों से विपरीत बातों को बोलने वाले जो हैं वे स्वच्छन्दी दुष्कर किया करनेवाले हों तो भी उनका दर्शन करना नहीं कल्पता है। ऐसा कल्प में कहा है। कल्प की बात बताते हैं—

मूल—जे जिणवयणुत्तिन्नं वयणं भासंति जे य मन्नंति ।

अहवा सद्विणं तदंसणं पि संमारवुड्करं ॥९१॥

अर्थ—जो जिन वचनों से विपरीत बोलते हैं, विश्वास करते हैं। उनका दर्शन सम्यक्तियों के लिये संसार वृद्धि का कारण होता है।

×                            ×                            ×

पांच प्रकार के आचारों का स्वरूप बताते हैं—

मूल—नाणम्मि दंसणम्मि य चरणंमि तवंमि तह य वीरियंमि ।

आयरणं आयारो द्य एमो पंचहा भणिओ ॥

अर्थ—१—ज्ञान में-प्रवृत्ति-ज्ञानाचार-२-श्रद्धा बढ़ाने में प्रवृत्ति-दर्शनाचार-३-सदाचार में प्रवृत्ति चारित्राचार-४-तपश्चर्या में प्रवृत्ति तपाचार और-५-शासन सेवा में प्रवृत्ति वीर्याचार। ऐसे आचार पांच प्रकार का बताया है।

×                            ×                            ×

पांच आचारों के प्रत्येक के भेदों की संख्या बताते हैं—

मूल—नाणं दंसणमहचरणमत्थि पत्तेयमट्भेइल्लं ।

वारस तवम्मि छत्तीस वीरिए हुंति इमे मिलिया ॥९३॥

अर्थ—ज्ञानाचार दर्शनाचार और चारित्राचार प्रत्येक आठ अठ भेदवाला होता है। तपाचार में बारह भेद कुल मिलाने से ये छत्तीस भेद होते हैं। वीर्याचार में उपरोक्त छत्तीसों ही भेद होते हैं।

×                            ×                            ×

जिस विधि से आलोचना-तप किया जाता है, वह कहते हैं—

मूल—आलोयणातवो पुण इत्थं एगासणं तिहाहारं ।

पुरिमङ्गुतवो इह जो सो सव्वाहारचागाओ ॥९४॥

अर्थ—आलोचना तप इस तरह होता है। एकाशन किये बाद त्रिवध आहार का त्याग करना चाहिये। पुरिमार्द तप-पुरिमङ्गुतवो पौरुषी तप दिन के पहिले दो प्रहर तक चार आहारों का त्याग करना चाहिये। आलोचना संबंधि यदि एकाशना आदि तप हो तो बाद में तिविहार होता है।

प्रश्न—निविग्य में क्या विधि है ? बताते हैं ।

मूल---तं होइ निविग्याइयं, जं किर उक्कोसदव्वचाएण ।

कीरइ जं उक्कोसं, तं दव्वं पुण निसामेह ॥९५॥

खीरी-खंडं-खज्जूर-सक्कर-दक्खव-दाडिमाई य ।

तिलवट्टी वडयाइं करंबओ चूरिमं च तहा ॥९६॥

नालियरं मोइयमंडिया, संतलिय भज्जियाचणए ।

आसुरि अंबिलिया पाणगाइ, किल्लाडियाइ तहा ॥९७॥

तंदुलकटिअं दुद्धं घोलं एयाइं भूरि भेयाणि ।

उक्कोसगदव्वाइं वज्जिज्जा निविग्यायमिस ॥९८॥

अर्थ—विकार-बर्द्धक उत्कट-द्रव्यों के त्याग से एक बार भोजन करने को आम पुरुष निविग्य फरमाते हैं। उत्कट-द्रव्य जो हैं वे इस प्रकार हैं। खीर, खाँड, खज्जूर, सक्कर, द्राक्षा दाडिभ आदि फल, तिल पापडी, बड़े, करवा, चूरमा, नारियलगिरि, मोदिक, मन्डिका पूरणपोली, भूंजे हुए तले हुए चने, राइता इमली का पानी, फटे हुए दूध ग्रारिका आदि, थोड़े चावल डाल कर कढ़ा हुआ दूध, दहिका घोलिया, ऐसे अनेक प्रकार के उत्कट द्रव्यों को निविग्य में नहीं खाना चाहिये ।

उत्कट-द्रव्यं का क्या लक्षण है ?

मूल—विगई दव्वेण हया, जायं उक्कोसियं भवे दव्वं ।

केइतयं किगइगयं, भणंति तं सुयमयं नत्थि ॥९९॥

अर्थ—दूध, दही, घी, तैल, गुड, तली हुई चीजें, ये छह विषय दूसरे द्रव्य से उपहत होने पर उत्कट द्रव्य हो जाता है। कई लोग उत्कट द्रव्य को विग्य कहते हैं जो श्रुत समत नहीं है ।

प्रश्न—उपर बताये उत्कट द्रव्यों का त्याग आलोचना संबंधि निविग्य में होता है या हर एक निविग्य में करना चाहिये ? ।

मूल—कल्लाण तिहीसु पुणो, जं कीरइ निविग्य मिह ।

तथ खंडादि दव्वमुक्कोसियं, तु उस्सग्गओ वज्जे १००

अर्थ—कल्याणक-दिनों में पर्व तिथियों में या और किसी उहेश्य से निविगय किया जाता है उसमें उत्कट द्रव्य खंडादि वस्तुयें उत्सर्ग विधि से छोड़ देना चाहिये ।

प्रश्न—अपवाद यह उपस्थित होने पर उत्कट द्रव्य स्वयं खाले या गुरु आज्ञा से खाना चाहिये ।

**मूल—गीयत्था जुगपवरा, आयरिया दव्व-खेत्तकालन्नू ।**

उक्कोसयं तु दव्वं, कहंति कय-निविगयस्सा वि ॥१०१॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव को जानने वाले गोतार्थ युग प्रधान आचार्य निविगय करने वाले भव्यात्मा को उत्कट द्रव्य लेने की आज्ञा दे सकते हैं ।

**मूल—उवहाणतवपद्धु असमत्थो भावओ य सुविसुद्धो ।**

उक्कोसगं तु दव्वं विगद्वच्चाए वि तसुचियं ॥१०२॥

अर्थ—उपधान तप में प्रवेश किया हुआ सुविशुद्ध भाव वाला असमर्थ आराधक विगय त्याग करने पर भी उसनिविगय तप के उपयुक्त उत्कट द्रव्य का उपयोग कर सकता है ।

**मूल—जो पुण सइ सामत्थे, काऊणं सव्वविगद्वपरिहारं ।**

भक्खइ खंडाइयं नियमा, सो होइ पच्छिती ॥१०३॥

अर्थ—फिर जो सामर्थ्य के रहते हुए सब विगय के त्याग को अर्थात् निविगय पञ्च-क्खाण करके यदि खंडादि उत्कट द्रव्य को खाता है तो नियम से वह प्रायश्चित का भागी होता है ।

**मूल—इत्थ पत्थावे खण्डपुच्छए उत्तरं कयं ।**

अर्थ—अकारण उत्कट द्रव्य खाने से निविगय पञ्चक्खाण वाले को दोष बताने के इस प्रस्ताव में खाँड खाना चाहिये या नहीं इस प्रश्न, का उत्तर एक सौ तेतीस वीं गाथा में आगे बताया है—कि नहीं खाना चाहिये ।

**मूल—गिहिणो इह विहियायं बिलस्स कप्पति दुन्न दव्वाणि ।**

एगं समुचियमन्नं बीयं पुण फासुगं नीरं ॥१०४॥

अर्थ—आंबिल तप करने वाले गृहस्थ को एक समुचित अन्न और दूसरा अचित्त जल ये दो द्रव्य खाने पीने में कल्पते हैं ।

**मूल—गोहुम-चणग-जवेहिं भुग्गेहिं सत्तुएहिं छासीए ।**

घुघुरिया वेढिमियाइ इडुरियाहिं न तं कुज्जा ॥१०५॥

अर्थ—भुंजे हुए गेहूं-चने-जौं से, जौं के सत्तु से, अधपकी धानकी घुधरी से बेड मिसे, देश विशेष प्रसिद्ध इडुरिका से, गरम पानी और त्रिफला जलसे अतिरिक्त छाँड़ आदि पीने योग्य पदार्थों से आंबिल न करें।

प्रश्न—आंबिल में दो द्रव्य ही लेने की विधि है तो दंतशुद्धिके लिये सीली ( तीनखा ) का उपयोग करना चाहिये या नहीं ?

मूल—जे पुण सिलियाइं विणा, मुहसुद्धि काउं इत्थमसमत्थो ।

सो कडुयकसायरसं, सिलियं गिणहइ न से भङ्गो ॥

अर्थ—जो सिली के बिना मुख-दातकी शुद्धि करनेमें असमर्थ हो तो वह कडुए कसेले रसवाले नीम आदि की सीली ले सकता है। इससे आंबिल में दो द्रव्य नियम विधिका भंग नहीं होता।

प्रश्न—उपवास में आहार विधि क्या है ?

मूल—आहारतिगं वज्जिय सजियं न जलं पि पियइ पवररसं ।

जो किर कयउववासो सो वासं लहइ परमपदे ॥१०७॥

अर्थ—जो असण, खादिम और स्वादिम ऐसे तीन प्रकार के आहारों का त्याग करके प्रधान रसवाले सजीव—सचित्त पानी को नहीं पीते हैं वे परम पद-मोक्ष में निवास प्राप्त करते हैं।

×

×

×

प्रश्न—आलोचना तप विधि कही गई। इसमें एवं दूसरे कल्याणक आदि तप संबंधी निविगय आदि तप में जो नहीं कल्पता है सो दीखाते हैं।

मूल—पायच्छित्तविसोहणकरणखगम्मि तवम्मि पारच्छे ।

जलपिवणं कपपइ नो निसाइ निवियाइ सेसतवे॥१०८॥

अर्थ—प्रायश्चित्त विशुद्धि करने में समर्थ आलोचना तप का प्रारंभ करने पर, एवं कल्याणकादि संबंधी निविगय आदि शेष तप में रात्रि में जलपान नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—निविगय आदि तप में तैल आदि विकृतियों का बाह्य परिभोग करना चाहिये या नहीं।

मूल—पायाईणबंगो निवियायंबिलोववासेसु ।

वायाइपीडिएहिं, कायव्वो अन्नहा न करे ॥१०९॥

अर्थ—निविगय- आंबिल और उपवास में वायु आदि रोग से पीड़िन व्यक्ति अप-

वाद से हाथ पैर आदि शरीर में तैल आदि का मालिश कर सकता है। अन्यथा शृंगार की दृष्टि से ऐसा नहीं करना चाहिये।

**मूल—आलोयणाविसुद्धि**, जो काउं वंछए स सज्ज्ञायं ।

वज्जिउं कालवेलं, करेइ ताओ इमे चउरो ॥११०॥

अर्थ—जो शुद्धात्मा अपने पापोंकी आलोचना-विशुद्धि करने को चाहता है वह महानुभाव चार कालवेला को छोड़कर स्वाध्याय को करे।

**मूल—चउपोरिसिओ दिवसो, दिणमज्जंते य दुनिं घडियाओ ।**

एवं रयणीमज्जे, अन्तंमि य ताओ चत्तारि ॥१११॥

अर्थ—चार पौर्णी का एक दिन होता है। दीनके मध्यमें और अन्तमें दो-दो घड़िये ऐसे दिन रात के मध्य और अन्तमें चारकाल बेलाएँ होती हैं। इनमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—कालवेला में ही स्वाध्याय नहीं करना या दूसरे किसी काल में भी ?।

**मूल---चित्ता-सोए सियसत्तमटुनवमि तिसु तिहीसुँ पि ।**

बहुसुय-निसिद्धमेयं न गुणिज्जुवएसमालाइ ॥११२॥

अर्थ—चैत्र और आसोज में शुक्ल पक्षकी सप्तमी अष्टमी और नवमी इन तीन तिथियों में भी उपदेश माला आदि प्रकरणों को पढ़ना बहुश्रुत-गीतार्थ आचार्यों ने निषेध किया है।

+ + +

उपरकी गाथामें उपदेशमाला आदि कहा गया है, तो आदि शब्द से किन-किन प्रकरणों को लेना चाहिये उनके नाम बताते हैं।

**मूल---उवएसपए पंचासए तह पंचवत्थुगसयगं ।**

सयरी कम्मविवागं छ्यासि य तह दिवडुसयं ॥११३॥

जीवसमासं संगइणिकम्मपयडी उ पिंडसुर्द्धि च ।

पडिकमणसामायारि थेरावलियं सपडिककमणं ॥११४॥

सामाइयचीवंदणवंदणयं काउसग्गसुत्तं च ।

पच्चक्खाणं तह पंचसंगहं अणुवयाइविहि ॥११५॥

खित्तसमासं पवयणसंदोहुवएसमालपुणसुत्तं ।

सावयपन्नति नरय-वन्नणं सम्मसत्तरियं ॥११६॥

अट्ट्य सोड सगाइं तह वीसं विसियाउ पसमरई ।  
जिए सत्तरियं एवमाइं जत्थ सिद्धन्तपरमत्थो ॥११७॥  
भन्नइ तं सेसं पि हु पवयणमिह चउमु कालवेलासु ।  
न गुणिज्जा सेयासुं चितासोए तिसु तिहिसु ॥१८॥

अर्थ—उपदेशपद, पंचाशक, पंचवस्तु, शतक, कर्मसप्तिका, कर्मविपाक, षडशीति, द्वयर्द्धशतक, जीवसमास, संग्रहणि, कर्मग्रकृति, पिण्डविशुद्धि, प्रतिक्रमणसमाचारी, स्थविरावली, प्रतिक्रमणसूत्र, सामायिक, चैत्यवन्दन, गुरुवन्दन; काउसग्गसूत्र, प्रत्यारूप्यानभाष्य, पंचसंग्रह, अणुब्रतादि विधि, क्षेत्रसमास, प्रवचनसार, उपदेशमाला, पंचसूत्र, श्रावकप्रज्ञमि, नरकवर्णनकुलक, सम्यक्वसप्तिका, अष्टकजी, षोडशक, विशतिस्थानक, प्रशमरति, जिनसप्तिका, इत्यादि प्रकरण जिनमें सिद्धान्त का परमार्थ पढ़ा जाता है। वह अशेष प्रवचन चारकाल वेलाओंमें चैत्र आसोजमें शुक्ल पक्षकी सप्तमी अष्टमी और नवमी इन तीन तिथियोंमें नहीं पढ़ना चाहिए।

प्रश्न स्वाध्याय किस विधि से करने से सफल होता है ?  
मूल—पठमं पडिक्कमिऊणं इरियावहियं जहा ममायारि ।

निदं विकहं कलहं हासक्किहुइं वज्जंतो ॥११९॥  
वयणदुवारे मुहणांतयं, च वत्थंचलं अह दाउं ।  
सुत्तत्थे उवउत्तो सज्जायं कुणइ सुणइ पढं ॥१२०॥

अर्थ—पहिले इर्यावही करके विधि पूर्वक निद्रा, विकथा, लडाई, हँसी, कीड़ा आदि को छोड़ता हुआ। मुखव्यक्तिका, रूमाल या दुपट्ठा अदि से मुखकी जयणा करके सूत्र और अथेमें उपयोगीवान् होता हुआ स्वाध्याय करे सुने और पढे।

\* \* \*

प्रश्न—उपवास करने में अशक्त दूसरे ढंग से भी उपवास की पूर्ति कर सकता है क्या ? हाँ, बताते हैं ।

मूल—चउरिक्कासणएहिं उववासो तहय निव्वयतएण ।

आयंबिलेहिं दोहिं, बारसपुरिमहु उववासो ॥१२१॥

अर्थ—चार इकासनोंसे, तीन नीवियों से, दो आयंबिलों से, एवं बारह पुरिमहोंसे, एक उपवास होता है।

मूल—सज्जायसहस्रेहिं दोहिं एगो हविज्ज उववासो ।

कारणओ कससइ पुण अट्टहिं दोकासणेहिं च ॥१२२॥

अर्थ—आलोचना का उपवास रोग आदि कारण से किसी सुकुमार प्रकृति वाले को दो हजार इलोक प्रमाण स्वाध्याय करके पूर्ण करना चाहिये ।

मूल—संतंमि वले संतंमि वीरिए, पुरिसकारि संतंमि ।

जह भणियं सुद्धिकए, करिज्ज आलोयणाइ तवं ॥१२३॥

अर्थ—बल-शरीर सामर्थ्य के रहते हुए, वीर्यमन उत्साह के रहते हुए, और अंगीकृत निर्वाहक रूप पुरुषत्व के रहते हुए आलोचनाचार्य ने जैसा फरमाया है। वैसा, आत्म-शुद्धि के लिये तप करना चाहिए। मनमाने ढंग से नहीं करना चाहिये।

मूल—अह नत्थ शरीर बलं तवसत्ती वि हु न तारिसा होइ ।

भावो विज्जइ सुद्धो ता अववाएण हुज्ज तवं ॥१२४॥

अर्थ—पक्षान्तरमें यदि वैसा देह सामर्थ्य नहीं है। पर आत्म शुद्धि के लिये भाव विद्यमान है, तो अपवाद से एकासन आदि द्वारा उपवास आदि तप हो सकता है।

मूल—सुगुरुणं अणाए करिज्ज आलोयणातवं भव्वो ।

इय भणितसूत्रविधिना, स लहु परमप्पयं लहइ ॥१२५॥

अर्थ—श्रीसद्गुरुकी आज्ञा से इस प्रकार सूत्रमें बताई हुई विधि से जो भव्य जीव अलोचना तप करता है। वह जलदी से परमपद को प्राप्त करता है।

प्रश्न—शिथिलाचारी कुगुरु द्वारा दी हुई आलोचना प्रमाणभूत होती है या अप्रमाणभूत ? कहते हैं ।

मूल---केणावि सावएणं सुद्धेणं सिद्धिलसूरिपासम्मि ।

आलोयणा य गहिया, पमाणमिह किं न सा होइ ॥१२६॥

अर्थ—किसी भोले श्रावकने शिथिलाचारवाले आचार्य के पास आलोचना प्रहणकी हो तो वह जैन शासन में प्रमाणिक नहीं होती है क्या ?

मूल---जमगीयत्थो सिद्धिलो आउट्टिपमायदप्पकप्पेसु ।

न वि जाणइ पच्छितं दाउं अह तं परं देइ ॥१२७॥

अर्थ—जो अगीतार्थ शिथिल-आचार बाला आकुट्टि-हिंसादि रूप, प्रमाद-विषय सेवा रूप दर्प-कुदना आदि किया रूप, कल्प कारणमें करना इन विषयोंमें प्रायदिच्चत देना नहीं जानता है, फिर भी दे देता है, तो वह विराधक होता है। लेनेवाले की आलोचना भी प्रमाणिक नहीं होती। कपोल कल्पनामात्र होने से ।

न जानकर भी देता है उसकी विराधकता तो ठीक, पर त्रिकरण शुद्धि से ग्राहक की आलोचना अप्रमाणिक क्यों होती है ? - कहते हैं ।

**मूल----तत्थ तिथ गाहगस्स वि दासो सां दायगस्स अहिययगे ।**

**तित्थगराणभंगो, आणा वेसा जओ भणियं ॥१२८॥**

अर्थ—अगीतार्थ से आलोचना लेने वाले को भी दोष ही होता है । वह दोष देने वाले को अधिकतर होता है । क्यों कि ऐसा करनेसे तीर्थकर देवों की आज्ञा का भंग होता है । ऐसी आज्ञा है, इसीलिये यह बात कही है ।

**मूल----आलोयण चउभेया, अरिहो अरिहंमि पटमओ भंगो ।**

**अरिहंमि अणरिहो पुण, विओ अरिहो वि जमणरिहे ।**

**एसो तइओ जत्येव अणरिहा देवि सो चउत्थो उ ॥१२९॥**

अर्थ—अधिकारी भेद से आलोचनाके चार भेद हैं । देनेवाला योग्य हो, और लेनेवाला भी योग्य हो, यह पहिला भेद हुआ । देनेवाला योग्य हो पर लेने वाला अयोग्य हो यह दूसरा भेद है । देनेवाला अयोग्य हो, और लेनेवाला योग्य हो, यह तीसरा भेद है । जहाँ देनेवाला भी अयोग्य हो, और लेनेवाला भी अयोग्य हो, यह चौथा भेद हुआ ।

**मूल---पटमो उसगेण, सुद्धा अववायओ र्वाओ ।**

**तइओ पुण अच्चन्ताववायओ कम्मि होइ कस्स वि य ।**

**आणा वज्ञोभंगो एस चउत्थो तओ दासो ॥१३०-१३१॥**

अर्थ—उपर बताये चार भेदों में पहिला भेद उत्सर्ग से शुद्ध माना गया है । अपवाद से दूसरा भेद शुद्ध है । तीसरा अल्पन्त अपवाद की हालत में कभी किसी खास व्यक्ति विशेष के लिये ठीक माना जा सकता है । चौथा भेद जो है वह तीर्थ कर देवों की आज्ञा से वाह्य है । इसीलिये वह दोष पूर्ण है ।

**मूल----दुणहवि य अयाणते पच्चक्खाणं पि जं मुसावाओ ।**

**आलोयणा वि एवं गहिया हुज्जा मुसावाओ ॥१३२॥**

अर्थ—प्रत्याख्यान करानेवाला और प्रत्याख्यान करनेवाला दोनों जानकारी से हीन हों तो वह प्रत्याख्यान भी मृषावाद-भूंठमात्र हो जाता है, और इसी प्रकार अजानते अनधिकारी रूप से आलोचना करने और कराने वाले को भी मृषावाद भूंठका दोष लगता है ।

प्रश्न—त्यागी हुई एक दो तीन आदि विगयोंको और तत्संबंधी उत्कट द्रव्यों को खाना

नहीं कल्पता है, समान दोष होने से । इसी तरह निविगय में भी सभी विगयों को एवं उनके उत्कट द्रव्योंको छोड़ देने चाहिये क्या ।

**मूल—दो तिनि य विर्गाईओ, पञ्चक्खंतेण मुक्त्वातु क्या ।**

ताओ भोअण समए, सव्वा भुत्ता गुडेण विणा ॥१३३॥

**मूल—ता खण्डसक्तगाओ, सो भुँजइ किं न वेति इयुच्छा ।**

(उत्तर मेवं) तत्थ उ, सो विन भक्तिखज्ज खण्डाइ ॥१३४॥

**अर्थ—**दो, तीन विगयों को प्रत्याख्यान करते हुए खुली रखी, उन सबको भोजन के समय गुड़ को छोड़ कर खाली—तो गुड़ विगय के उत्कट द्रव्य खांड शक्त आदि को वह प्रत्याख्यान करनेवाला व्यक्ति—खावे या नहीं ? इस प्रश्नका यह उत्तर है कि—न खावे । निविगय में भी यही बात जानना ।

\*

\*

\*

उत्सर्गसे उत्कट द्रव्यको नहीं खाना बता कर अपवाद विधि को बताते हैं !

**मूल—जइ पित्ताई-रोगो सो खण्डाईहि उवसमइ तस्स ।**

ता तगगहणं जुत्तं, रसगिद्धीए न तं भुंजे ॥१३५॥

**अर्थ—**यदि प्रत्याख्यान करने वाले को पित्त-आदि रोग हो जाय और वह खांड आदि उत्कट द्रव्यों से उपज्ञान्त होता हो तो उनका ग्रहण करना युक्त हो सकता है । रस-गृद्धि जीभ के स्वाद के लिये अयुक्त होगा ।

**प्रश्न—कई लोग सांगरी और राईको द्विदल नहीं मानते । तो उनको द्विदल मानना चाहिये या नहीं ?**

**मूल—जं संगरराईओ भवंति विदलं नवत्ति पुडाओ ।**

तथेवं भन्नइ राईयाअ विदलं न भण्णंति ॥१३६॥

**अर्थ—**क्या संगरियाँ और राई द्विदल हैं या नहीं ? इस प्रश्नके जवाब में कहते हैं कि उनमें राई द्विदल नहीं कही जाती ।

**मूल—वरहासाईसु ठाणेसु ताओ जं घाणगंभि पक्तिखतुं ।**

पीलिजजंति तिल-सरिस बुव्व तिल्लं वि य मुयंति ॥१३७॥

**अर्थ—**वरहास आदि देश विदेशों में राईको घाणीमें डाल कर पीलते हैं । राई भी तिल-सरसों के जैसे तैल को छोड़ती है ! इस लिये गोरस में द्विदल के जैसा दोष नहीं माना गया ।

मूल—जह किर चवलयचणया बिदलं तह संगरावि बिदलं ति ।

दिणचरिया नवपयपयरणेमु लिहिया उ फलिवग्गे ॥१३८॥

अर्थ—जैसे चँवले और चने द्विदल हैं। वैसे ही—सांगरियां भी द्विदल ही हैं। क्यों कि दिनचर्या और नवपदप्रकरण आदि प्रकरणों में सांगरियों को फलि वर्ग में लिखा गया है।

मूल—नय संगरबीयाओ तिल्लुप्पत्ती कया वि संभवइ ।

दलिए दुन्न दलाइ मुगगाईणं व दीसंति ॥१३९॥

अर्थ—सांगरी के बीजों से कभी भी तैल को उत्पत्ति संभवित नहीं है। एवं घट्टी में दले जाने पर दो दल मुँग आदि के जैसे होते हैं। इस लिये सांगरी द्विदल ही है।

मूल—एवं कंडुय-गोवारपभियमारन्नियं भवे बिदलं ।

एयं न सावएणं भुत्तवं गोरसेण समं भणियं ॥१४०॥

अर्थ—इसी प्रकार कडुक-ब्वार आदि जंगली धान्य—जो कि द्विदल होते हैं। उनको गोरस-कच्चे दही छाछके साथ श्रावकको नहीं खाना चाहिये। ऐसा पूर्वाचार्यों ने फरमाया है।

मूल—पंचुंबरि चउविगई हिम विस करगे य सव्वमट्टीय ।

राईभोयणगं चिय, बहुबीयणंतसंधाणं ॥१४१॥

घोलवडाबायंगण अमुणिय नामाइं पुङ्कफलयाइं ।

तुच्छफलं चलियरसं वजह वज्जाणि बावीसं ॥१४२॥

अर्थ—बड़काफल, पीपलकाफल, गुलरकाफल, पीलुकाफल, पीचुकाफल, इन पांच उदुबर फलोंको शराब, मांस, सहत, मक्खन, इन चार महाविगयों को शरदी में जमा हुआ पानी हिम, जहर, बर्षादि के गड़े सब प्रकार की मिट्टी, रोत्रीभोजन, बहुबीज, अनंतकाय, सन्धानं—कालानीत अचार, घोलबड़े, वैंगन, अज्ञात फलफूल, चलितरस इस वस्तु इन त्यागने योग्य बावीस अभक्ष्यों को अपने हितके लिये भव्य जीव क्लोड़ दें।

प्रश्न—स्वाधीन कुशील का त्याग करने वालेको पराधीन अवस्थामें कुशील सेवन हो जाय तो ब्रत भंग होगा या नहीं ?

मूल—मणुय सुरतिरिय विसयं दुविहं तिविहेण थूलगमबंभं ।

सवसा चयामि मुत्तुं सयणाइ सदार कारवणं ॥१४३॥

अर्थ—गृहस्थ स्त्री या पुरुषको कुशील त्याग का नियम इस प्रकार लेना चाहिये । मनुष्य देवता और तोर्यं च सम्बन्धी विषय भोग को—स्थूल अब्रह्मवर्यको मन वचन और काया इन तीन योगों से, स्वाधीन भावसे कर्त्तुं नहीं कराउ नहीं इन दो करणों से, स्वज्ञन सम्बन्धियों को—उपलक्षण से गाय भैंस आदि जानवरोंको स्वदार सम्बन्ध कराने की छूट रखकर त्याग करता हूँ । इस नियम की मर्यादा में पराधीन अवस्थासे कुशील हो जाय तो ब्रत भंग नहीं माना जाता ।

प्रश्न—कोई भी तप किया गया हो उसका उज्जमणा यदि किसी कारण से न हो सका तो वह तप सफल होता है या नहीं ?

मूल—काए वि माविगाए विहिओ दिक्खातवो न उज्जमिओ ।

भावविमुद्धिइ फलं तहावि से अतिथ इहरा नो ॥१४४॥

अर्थ—किसी भी श्रावक श्राविकाने कल्याणक आदि तप किया हो और उसका उज्जमणा न हो सका हो तो भाव विशुद्धि से वह सफल ही होता है । कंजूस वृत्ति आदि से यदि न किया गया हो, तो सफल नहीं होगा ।

मूल---अह सा सग्गहं गहिया पासे सच्छंदसिद्धिलिंगीणं ।

कुणइ तवो नतिथ फलं, ता तीसे होइ भूरिभवो ॥१४५॥

अर्थ—अगर श्रावक श्राविका स्वच्छन्द शिथिलाचारी भेषधारियों के पास तप प्रहण करते हैं तो वह सफल नहीं होता एवं उनका भव भ्रमण बढ़ता है ।

प्रश्न—गोत्र देवताकी पूजा आदि नहीं करने से गृहस्थों के लिये प्रतिकूल आचरण कर देते हैं । उसके लिये क्या करना चाहिये ?

मूल—अच्चन्तखुदसीला, उवदवं कुणइ जो न पूयेइ ।

जस्सेरिस त्यि गुत्तंमि देवया स कहं सङ्घोत्थु ॥१४६॥

अर्थ—जिसके गोत्र में अत्यन्त कूर स्वभाव—वाली गोत्र देवी हैं उसकी पूजा नहीं करने से उपद्रव करती है, वह श्रावक-ब्रतधारी कैसे हो ?

मूल—उस्सग्गेण न कप्पइ तीए पूयाइ तस्स सङ्घस्स ।

जइ मारइत्ता मारउ कुडुँबगं एस परमत्थो ॥१४७॥

अर्थ—उत्सर्गसे उस ब्रतधारी श्रावकको उस गोत्रदेवता की पूजा नहीं करनी चाहिये । यदि वह श्रावक-कुटुम्बको मारदेती है तो भले ही मार दे । श्रावकको ढढता रखनो चाहिये यह परमार्थ है ।

मूल—गीयत्थेणमगारछक्षमिह देसियं च सम्मते ।

रायगुरु देवया वित्तिच्छेयबलगणभिओगा य ॥१४८॥

ता इय अगारनिवेयणाओ धम्मत्थमन्नतित्थम्मि ।

वयणाओ अववाएण तीए नमणाईमु न दोसो ॥१४९॥

अर्थ—गीतार्थों ने सम्यक्त्व प्रतिज्ञामें छह आगार बताये हैं। राजाअभियोग, गुरुनिग्रह, देवताअभियोग वृत्तिकान्तार, बलाभियोग और गणाभियोग।

इन आगारों को इसलिये बताया गया है कि धर्म के लिये अन्यतीर्थ-धर्म में बन्दना नमस्कार अदि प्रवृत्ति न करे, पर उन छह कारणों से अपवाद से प्रवृत्ति करनी हो पड़े तो उत भंग नहीं होता। इस शास्त्रीय वचनों से अपवाद से उस गोत्रदेवी को नमस्कारादि करने से भी दोष नहीं होता।

\*

\*

\*

ग्रंथकार उपसंहार करते हुवे अपना परिचय देते हैं।

मूल—इय कइवयसंसयपयपणहुत्तरपयरणं समाप्तेण ।

भणियं जुगपवरागमजिणबल्लभसूरिसीसेण ॥१५०॥

अर्थ—इस प्रकार कितनेक संशय-प्रश्नों के उत्तर रूप इस प्रकरणको संक्षिप्त तथा युगप्रधानपरमगीतार्थ श्रीमज्जिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य-परम गुरुदेव दादा श्रीजिनदत्तसूरीश्वरजी महाराजने फरमाया।

### अनुवादक प्रशस्ति

दादा श्रीजिनदत्तसूरिगुरुने संदेहदोलावली,

गाथा सार्धशत प्रमाणरचना भव्य प्रबोधार्थ की ।

हिन्दी संस्कृत में उसे परिणता संक्षेप से की यहां,

पांच शाश्वत सिद्धि पावन विधि भव्यातमा जो पड़े ॥

जिन हरिसागर सूरिने, दो हजार पर चार ।

संवतमें इसको किला, जोधपुरे जयकार ॥

॥ समाप्त ॥

श्रीयुगप्रधानचतुष्पादिका का अंतिम पत्र ।

ग्रन्थस्थोद्योहस्तामाप्तिः ग्रन्थस्थोद्योहस्तामाप्तिः ग्रन्थस्थोद्योहस्तामाप्तिः

## परिशिष्ट

श्रीदिल्लीश्वरपातिसाह—अल्लावदीन—राज्यान्तर्गत—कन्नाणपुरवास्तव्य—वास्तुसार—

ज्योतिष्कसार—गणितसार—रत्नपरिक्षा—द्रव्यपरीक्षादिप्रन्थकार—

श्रीमालकुलावतंस—परमजैन चंद्रांगज—ठकुरफेरु-विरचिता—

## श्रीयुगप्रधानचतुष्पदिका ।

प्रस्तुत ग्रंथकर्ता ठकुरफेरु का विशेष परिचय तो उपलब्ध नहीं होता पर उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि दिल्लीश्वर बादशाह अल्लाउद्दीन खीलजी के राज्यकाल में विद्यमान थे। आप राज्यकर्मचारियों में से उच्चपद पर और ग्रामाधिपति भी थे। आपने युवावस्था में प्रथम ही युगप्रधानचतुष्पदिका नामक स्तुत्यात्मक ग्रन्थ की रचना की “युगप्रधान” याने तत्कालीन जैन संघ में होने वाले प्रधान आचार्य “चतुष्पदिका” याने उन आचार्यों के गुणों का चार चरणवाले पदों द्वारा स्तुति। प्रस्तुत ग्रंथ के आदि में भगवान् महाबीर स्वामी को नमस्कार कर एवं सरस्वती देवी का स्मरण करने के बाद युगप्रधान आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन प्रारम्भ होता है, जिसमें सुधर्मा स्वामी से लगाकर जिनचंदसूरि पर्यंत युगप्रधान आचार्यों के गुणों वर्णन है।

ग्रंथकी महिमा—

संघ सहित फेरु इस प्रकार कहता है कि उपरोक्त बताये हुए युगप्रधान आचार्यों के गुणों की जो कोई स्तुति करता है, एवं गुणों का अध्ययन करता है तथा गुणों की आवृत्ति करता है, और नियमपूर्वक मंत्रवत् गुणों का नियम स्मरण करता है, वह प्राणी मोक्षलक्ष्मी को अवश्य प्राप्त कर सकता है। संवत् १३४७ के माघ मास में कन्नाणपुर में राजशेखर वाचनाचार्य के सम्मुख गुरुभक्ति से चंद्र के पुत्र फेरु ने यह युगप्रधानचतुष्पदिका, नामक काव्य की रचना की।

अंतमें शुभकामना—

पांच मेरु पर्वत, एवं संपूर्णे द्वीप, चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और भी तारा वगैरह (समुद्र) और पृथ्वी जिस प्रकार निश्चल है उसी प्रकार साधु—साध्वी, श्रावक—श्राविकारूप चतुर्विधसंघ सर्व प्रकार से समृद्धवान होता हुआ निश्चल रहे ?

अन्य ग्रन्थ रचना—

(२) ज्योतिष्कसार, संवत् १३७२ ग्रं० इलो० ४७४। ग्रन्थ में ज्योतिष का विषय चार भाग में पूर्ण होता है।

(३) वास्तुसार, सं० १३७२ गाथा २८२। विषय शिल्प कला विज्ञान (मुद्रित)

(४) रत्नपरिक्षा सं० १३७२ गा० १३२। इस में सर्व प्रकार के रत्न एवं मोती इत्यादि का बर्णन है जो कि उस समय बादशाह के खजाने में विद्यमान थे।

(५) द्रव्यपरिक्षा, सं० १३७५ गाथा १४६। इस ग्रन्थ में प्राचीन और तत्कालीन राजा व बादशाहों की मुद्राओं का बर्णन है। जो कि अल्हाउद्दीन बादशाह के टंकशाल में विद्यमान थी। जिस की आदि गाथा—

“कमलासण कमलकरा छणससिवयणा सुकमलदलनयणा

संजुत्तनवनिहाणा नमि वि महालच्छ रिद्विकरा” ॥१॥

(६) धातोत्पत्ति, गाथा ५७। इस में सातों प्रकार के धातुओं का वर्णन है।

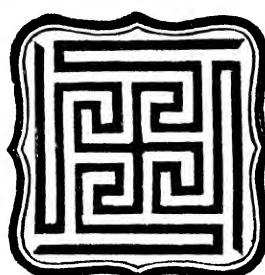
(७) गणितसार, गाथा ३११। इस में मुख्य गणित का विषय इसके अतिरिक्त कृषि, शिल्प-विज्ञान, आदि अन्य विषयों का भी संप्रह किया गया है। उपरोक्त संपूर्ण ग्रंथों का विशेष परिचय हमारे लघुभ्राता मुनि कांतिसागरजी द्वारा लिखित “ठक्कुर फेरु और उनके ग्रन्थ” नामक निबन्धों में देखें—“विशाल भारत” अंक मई और जून १८४३।

इन ग्रंथों के अवलोकन से जान पड़ता है कि ग्रन्थकार फेरु प्राकृत एवं अपभ्रंस भाषा के महान् अनुभवी विद्वान् थे।

सं० १३७५में ठ० अचलने कुतुबदीनके समय जैन तीर्थोंकी जात्रानिमित्त विशाल संघ निकाला था, वैसा ही एक और सं० १३८० में ग्यासुदीन तुगलक के समय रयपति ने भी संघ निकाला था इन उभय संघों में ठक्कुर फेरु और श्रीजिनचंद्रसूर तथा दादा-जिनकुशलसूरि क्रमशः सम्मिलित थे। ( खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली पृ० ७२ ) इस प्रकार खरतरगच्छ के युग-प्रधानाचार्यों के समय में ग्रन्थकार ठक्कुर फेरु विद्यमान थे। प्रस्तुत ग्रन्थ का संशोधन और भाषा अनुवाद श्रीबुद्धिमुनिजी ने कराहे।

मुनि मंगलसागर

कलकत्ता



श्रीमालकुलावतंस-परमजैनचंद्रांगज-ठक्कुरफेरुविरचिता

## श्रीयुगप्रधानचतुष्पदिका ।

अनुवादक श्रीबुद्धिमुनिजी

सयलमुगमुरवंदियपाय, वीरनाह पणमवि जगताय ।

समरेविणु सिरिमरसइ देवि, जुगवरचरित भणुसु संखेवि ॥ १ ॥

वैमानिक व भवनवासी आदि देवताओंने जिनके चरणों में वंदन किया है, उन जगत् के पिता तुल्य भगवान् वीर प्रभु को प्रणाम करके । एवं सरस्वती देवीका स्मरण करके मैं जुगप्रधानाचार्यों का चरित्र संक्षेप में ( नाम मात्र ) कहूँगा । ॥१॥

मुहूँमसार्म गणहर पसुह, सिरिजुगपवर नाम वरमंत,  
सुमग्नु अणुदिणु भक्तिजुय, लीलइ तरिवि भवोयहि जेम,  
कमि कमि पावहु सिद्धिसुह ॥ धुवकम् ॥

वद्धमाणजिणपट्टि पसिद्धु, केवलनाणी गुणिहि समिद्धु ।

पंचमु गणहरु जुगवरु पढ़मु, नमहु सुहूँमसार्मगुरु अममु ॥ २ ॥

हे भव्यात्माओं ! गणधर श्रीसुधर्मा स्वामी प्रसुख युगप्रधान आचार्यों का नाम रूप उत्तम मन्त्र को भक्ति सहित हृदय में हमेशा स्मरण करो, जिससे कि लीला के साथ इस संसार समुद्र तिरजाओ और क्रमशः क्रमशः सिद्धि सुख को प्राप्त करो ( धुवपद )

भगवान् श्रीबद्धमान जिनेश्वर के पाटपर किसी तरह की ममता से रहित गुणोंसे समृद्ध, केवलज्ञान को धारने वाले, पांचवे गणधर और प्रथम युगप्रधान गुरु श्रीसुधर्मास्वामी प्रसिद्ध हुए, उन को नमस्कार करो ॥२॥

भजा अटु पंचसय तेण, इक्षि रयणि पडिवोहिय जेण ।

सुगुरुपासि लितु संयमभारु, सरहु सरहु सो जंबुकुमारु ॥ ३ ॥

जिन्होंने आठ लियोंको और पांचसौ चौरोंको एक ही रात में प्रतिबोध देकर सुगुरु श्रीसुधर्मास्वामी के पास संयम भारको ग्रहण किया था, उन जंबुकुमार मुनिवर को बारंबार स्मरण करो ॥३॥

पभवसूरि--सिउजंभउ सुगुरु, जसोभदु सूरीसरु पवरु ।

सिरिसंभूयविजउ मुणितिलउ, पणमहु भद्रबाहु गुणनिलउ ॥ ४ ॥

सुगुरु श्रीप्रभवसूरि, एवं सूरिप्रवर श्रीयशोभद्र सूरीश्वरजी और मुनियों में तिलक समान श्रीशंभूतविजयाचार्य तथैव गुणों के स्थान भूत श्रीभद्रबाहुस्वामी को प्रणाम करो ॥ ४ ॥

भद्रबाहसूरीसरपासि, चउदसपुव्रपठिय गुणरासि ।

भंजिउ जेण मयणभडवाउ, जयउ सु युलिभद्र मुणिराउ ॥ ५ ॥

जिन्होंने श्रीभद्रबाहुसूरीश्वरजीके पास चौदह पूर्वकी विद्या पढ़ीथि और मदन रूप सुभट के बादका जिन्होंने भंग कर दिया था, वे गुणोंके खजाने श्रीस्थूलभद्र मुनिराज जयवान् हो ॥५॥

दूसमकालि तुलिउ जिणकप्पु, अज्जमहागिरि गुरुमाहप्पु !

अज्जसुहस्ति थुणहु धरि भाउ, जिणि पडिबांहिउ संपझराउ ॥ ६ ॥

जिन्होंने इस दुष्प्रम ( पंचम ) कालमें महाप्रभाव शाली ऐसे जिन कल्पकी तूलना करी थी, उन आर्यमहागिरि आचार्य की और जिन्होंने संप्रति राजाको प्रतिबोध देके श्रावक बनाया था, उन आर्यसुहस्तिसूरि महाराज की स्तवना हृदय में भाव धर के करो ॥६॥

संतिसूरि कयसंघह संति, चउदिसि पसरिय जसु वरकित्ति ।

तासु पटि हरिभदु मुणिंदु, मोहतिमिरभरहरणदिणिंदु ॥ ७ ॥

उन के बाद संघ में शांति के करनेवाले श्रीशांतिसूरि हुए, जिनकी प्रधान कीर्ति चारों ही दिशाओं में प्रसृत थी, उन के पाटपर मोहरूप अंधकार के समूह को हरण करने के लिए सूर्य समान श्रीहरिभद्र मुनींद्र हुए ॥७॥

संडिलसूरि तह अज्जसमदु, अज्जमंग जणकद्वरवचंदु ।

अज्जधम्मु धर पयडिय धम्मु, भद्रगुत्तु दंसिय सिवसम्मु ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् भव्य जीव रूपी कमलों को विकसित करने के लिये चन्द्र तुल्य आर्य-संडिलसूरि तथा आर्यसमुद्रसूरि और आर्य मंगुसूरि हुए, बाद में पृथ्वीतल उपर प्रगटित किया है धर्म जिन्होंने ऐसे आर्य धर्मसूरि और दिखाया है शिवसुखका मार्ग जिन्होंने ऐसे भद्रगुप्तसूरि हुए ॥ ८ ॥

वयरसामि पभाविय तित्थु, अज्जरक्खिउ बोहियजणसत्थु ।

अज्जनंदिगुरु वंदहु नरहु, अज्जनागहत्थीसरु सरहु ॥ ९ ॥

अनेक प्रकार से शासन प्रभावना करने वाले वज्रस्वामी को, समस्त कुटुम्बी आदि जन समुदाय को बोध देनेवाले आर्य रक्षितसूरि को एवं आर्यनन्दि गुरु को वन्दन करो, एवं हे मनुष्यों ! आर्य नागहस्तीसूरि को स्मारण में लाओ ॥ ६ ॥

रेवयसामि सूरि खंडिल्ल, जिणि उम्मूलिय भवदुहसल्ल ।

हेमवंतु ज्ञायहु बहुभक्ति, तरहु जेम भवसायहु झात्ति ॥ १० ॥

रेवत स्वामी ( रेवति मित्र सूरि ) सूरि खंडिल ( सांडिल्याचार्य ) कि—जिन्होंने भवदुःख के शल्य को जड़से उखाड़ दिया है, एवं हिमवन्त सूरि, इन सब का बहुत भक्तिसे वैसा ध्यान धरो जिससे भवसमुद्र को जलदी तर जाओ ॥ १० ॥

नागङ्जोयसूरि गोविंद, भूदिन्न लोहित्त मुणिंद ।

दुसमसूरि उम्मासयसामि, तह जिणभद्रसूरि पणमामि ॥ ११ ॥

अर्य नागसूरि, गोविन्द वाचक, भूतदिन्नाचार्य, लौहित्याचार्य मुनीन्द्र, दुष्मसूरि; उम्मासय स्वामी ( उमास्वाति वाचक ) तथा जिनभद्र ( गणिक्षमाश्रमण ) सूरि को प्रणाम करता हूँ ॥ ११ ॥

सिरिहिभद्रसूरि मुणिनाहु, देवभद्रसूरिव जुगबाहु ।

नेमिचंद चंदुज्जलकित्ति, उज्जोयणसुरि कंचणदित्ति ॥ १२ ॥

मुनियों के नाथ श्रीहिभद्रसूरि एवं अपने युगमें बाहु ( भुजा ) समान श्रीदेवभद्र सूरिवर और चन्द्रसम उज्ज्वल कीर्ति वाले नेमिचन्द्र सूरि, कञ्चन के सदृश दीपि ( कांति ) वाले उद्योतन सूरि हुए ॥ १२ ॥

पयडिय सूरिमंतमाहपु, रूवि झाणि निज्जियकंदपु ।

कुंदुज्जलजसभुमियभवणु, सलहहु वद्धमाणसुरियणु ॥ १३ ॥

जिन्होंने सूरिमन्त्र का माहात्म्य प्रगट किया है, रूप व ध्यान से कन्दर्प ( कामदेव ) को जीतलिया है, कुन्दके फूल के समान उज्ज्वल यशसे समग्र भुवन ( लोक ) को भूषित किया है, उन सूरित्रि श्रीवर्द्धमानसूरिजी की प्रशंसा करो । १३ ॥

अणहिलपुरि दुल्हहत्याणि, जिणेसरसूरि सिद्धंतु वखाणि ।

चउरासी आयरिय जिणेवि, लित जमु वसहिमगु पयडेवि ॥ १४ ॥

उनके शिष्य आचार्य श्रीजिनेश्वरसूरि हुए कि—जिन्होंने अणहिलपुर पाटण में दुर्लभ राजाकी सभा में सिद्धान्तके सत्यार्थ प्रकाशन द्वारा चौरासी ( गच्छ के चैत्रवासी ) आचार्यों को जीतकर वसति वास के मार्ग को खुला कर के यश प्राप्त किया था ॥ १४ ॥

जिणि विरईय कहा संवेग-रंगसाला तह सत्थ अणेग ।

नियदेसण रंजिय नरराय, तमु जिणचंदसूरि सेवहु पाय ॥ १५ ॥

जिन्होंने संवेगरङ्गशाला कथा तथा ( क्षपक शिक्षा प्रकरण आदि ) अनेक शास्त्रोंकी रचना करी और अपनी देशना से राजाओं को भी रञ्जित किये, उन श्रीजिनचन्द्र सुरिजी महाराज के चरणों की सेवा करो ॥ १५ ॥

वर नवअंगवित्ति उद्धरणु, थंभणिपास पयड मुक्तरणु ।

अभयदेवसूरि मुणिवरराउ, दिसि दिसि पसरिय जमु जसवाउ ॥ १६ ॥

उनके पाट पर उन्हींके छोटे गुरुभाइ एवं मुनिवरों के राजा श्रीअभयदेवसूरिजी हुए कि जिन्होंने ठाणांगादि नवअंग सूत्रों पर वृत्तिकी रचना करी, एवं स्तंभन पुर ( खेड़ा के पास में आये थांभणा गांव ) में स्तंभन पार्श्वनाथ प्रभुकी प्रतिमा प्रगट करी, इसी कारण जिनका यशोवाद दिशोदिशि में प्रसूत था ॥ १६ ॥

नंदि--न्हवणु--बलि--रहु--सुपइट्ट--तालारामु जुवइ मुणिसिट्ट ।

निसि जिणहरि जिणि वारिय अविहि, थुणहु मु जिणवल्लहसूरि सुविहि ॥ १७ ॥

रात्रि के समय जिनमन्दिर में नन्दि ( दीक्षा ) विधि का करना, स्नानोत्सव, बलि-प्रदान ( नैवेद्यादि चढ़ाना या बलि बाकुलादि उछलना ), रथ भ्रमण, प्रतिष्ठा, तालियां बजाते हुए रासगाना और स्थियों आकर एकत्र होती, इत्यादि अविधि कर्तव्य, जो कि उत्तम मुनियों से सर्वथा निषिद्ध है, उनका जिन्होंने सर्वथा निषेध किया था और पूर्व महर्षियोंने बताये उत्तम विधिमार्ग का खूब जोरोंसे प्रचार किया था, उन मुनिश्रेष्ठ श्रीजिनबल्लभसूरिजी महाराज की स्तवना करो ॥ १७ ॥

जोइणिचक्रु उज्जेणिय जेण, बोहित जिणि नियज्ञाणवलेण ।

सासणदेवि कहित जुगपवरु, सो जिणदत्तु जयउ गुरु पवरु ॥ १८ ॥

उज्जयनी नगरी में जिन्होंने अपने ध्यान बलसे योगिनी चक्र ( ६४ योगिनीयों ) को जीतकर धर्म बोध दिया था और जिनको शासनदेवी ( अम्बिका ) ने युगप्रधान कहे थे वे उत्तम गुरुदेव श्रीजिनदत्तसूरिजी महाराज जयवंते रहो ॥ १८ ॥

सहजरूपि निजिजयअमरिंद, जिणि पडिबोहिय सावयविंद ।

पंचमहव्ययदुद्धरधरणु, णंदउ जिणचंदसूरि मुणिरयणु ॥ १९ ॥

जिन्होंने अपने स्वभाविक रूप से इन्द्र को भी जीत लिया हो वैसे अनुपम रूप सम्पदावाले, संरूपा वंध श्रावकों की प्रतिबोध देने वाले, बड़ी ही कठिन रीतिसे पञ्च

महा ब्रतोंको धारण करने वाले, मुनियाँ में रत्न समान मणिधारी श्रीजिनचन्द्र सूरजी महाराज समृद्धिमान् हो ॥ १६ ॥

अजयमेरि नरवद्वपचक्रिख, करि विवाउ बुहयणजणसक्रिख ।

जिणि पउमप्पहु लिउ जयपत्तु, जिणवद्वसूरि जयउ सुचरित्तु ॥ २० ॥

जिन्होंने अजमेर में राजा के समक्ष बुधजन ( पण्डित ) जनोंकी साक्षी से विवाद करके पद्मप्रभ उपाध्यायको जीतकर जयपताका प्राप्त किया था, वे उत्तमचारित्रवान् श्रीजिनपतिसूरजी महाराज जयवंते हो ॥ २० ॥

नयरि नयरि जिणमंदिर ठविय, तोरण-डंड—कलस—धजसहिय ।

तेवीसा सउ दिक्रिखय साहु, जिणेसरसूरि जयउ गणनाहु ॥ २१ ॥

शहरो शहर में तोरण, ध्वजदण्ड, ध्वजा, कलश सहित जिनमन्दिरों की स्थापना कराने वाले, एकसो तेवीस साधुओंको दीक्षा देनेवाले, गणनाथ श्रीजिनेश्वरसूरजी महाराज जयवान् हो ॥ २१ ॥

तसु पयपउमुज्जोयणु भाणु, जसनिम्मलू गुणगणह निहाणु ।

जुगपवरागम संसयहरणु, जिणवबोहसूरि सुहगुरुसरणु ॥ २२ ॥

उनके चरण कमल में उद्द्योतनशील ( अतिशय प्रकाशवान् ) सूर्य समान और निर्मल यशके धारक, गुण गणके निधान, अपने समय में उत्तम आगम ज्ञान के धारक भव्यात्माओं के संशयों को हटाने वाले, शुभगुरु श्री प्रबोधसूरजी महाराज भव्य जीवोंको शरण हो ॥ २२ ॥

\*

तसु पट्टुद्धरु गुरु मुणिरयणु, मयणविणासणु सिवसुहकरणु ।

भवियलोयजणमणआणंदु, संपइ जुगपहाणु जिणचदु ॥ २३ ॥

उनके पाटको अतिशयपणे धारण करने वाले, मदन का विनाश करने वाले, शिव-सुखके करने वाले, मुनियों में रत्न समान, युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि गुरु महाराज भव्य लोगोंके मनको आनन्दित करते हुए संप्रति ( वर्त्तमान ) कालमें विजयमान हो ॥ २३ ॥

इय इत्तिय सुहगुरु आमनइ, जिणचंदसूरि जुगवर जो मनइ ।

सुजिउ रमइ सासयसिवनारि, वलवि न पडइ इत्थ संसारि ॥ २४ ॥

( ज )

इस प्रकार इतनी शुभगुरु आम्माय ( परम्परा ) से प्राप्त युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि जो को जो मानता है वह जीव शाश्वती ( सदाकाल रहनेवाली ) शिवनारी ( मोक्षखी ) से रमण करता है और फिर से यहां संसार में नहीं पड़ता ॥ २४ ॥

जक्खिणि जक्ख बिउण चउवीस, विज्जादेवि चहूणी वीस ।

इय चउठि मिलि देहि असीस, जिणचंदसूरि जिउ कोडिवरीस ॥२५॥

यक्षिणी व यक्ष दुगुने चौबीस ( ४८ ), याने २४ तीथकर देवोंका अधिष्ठाता देवियाँ, २४ और देव २४ मिलकर ४८, एवं दो कम बीस याने १६ त्रियादेवियाँ, से सब जुमले चौंसठ ही मिलकर आशीर्वाद देवें कि—श्रीजिनचन्द्र सूरिजी महाराज क्रोट वर्ष जीवते रहो ॥ २५ ॥

संघसहित फेरु इम भणइ, इत्तिय जुगपहाण जो थुणइ ।

पढ़इ गुणइ नियमणि सुमरेवइ, सो सिवपुरि वररज्जु करेइ ॥ २६ ॥

श्री संघ सहित फेरु ( ग्रंथकर्ता ) एस प्रकार कहता है कि—इतने युग प्रधानों को जो स्तवता है और उनके गुगनुवोद रूप इस चतुष्पदिका को जो पढ़ता है गुणता है व निजमनमें स्मरण करता है वह शिवपुरि ( मोक्षनगर ) में उत्तम राज्य करता है ॥ २६ ॥

तेरह---सइतालइ ( १३४७ ) महमासि, रायसिहरवाणारिय पासि ।

चंदतणुब्भवि इय चउपइय, कन्नाणइ गुरुभत्तिहि कहिय ॥ २७ ॥

विक्रम संवत १३४७ के माघ मासमें ‘कन्नाणय’ नगरमें वाचना चार्य श्रीराजशेखर के पास रहते हुए चन्द्रनामक शोठ के पुत्र “फेरु” ने यह चौपाइ कही ॥ २७ ॥

सुरगिरि पंच दीव सब्बेवि, चंद सूर गह रिक जि केवि ।

रयणायर धर अविचल जाभ, संघु चउब्बिहु नंदउ ताम ॥ २८ ॥

मेरु पर्वत, पंचद्वीप, चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्रादि तथा समुद्र व पृथ्वी आदि जो कुछ भी जगत्के पदार्थ हैं वे सभी जहांतक अविचल रहे वहांतक चारों ही प्रकारका संघ समृद्ध-मान् रहो ॥ २८ ॥

( क )

जि—णपबोहगुरुरायचरणपंक्यवरअलिबलु,  
 न—वविजियदयकरणु मयणगयसिंहमहाबलु,  
 चं—दुजजलु गुणविमलु कत्ति दसदिसिहि पसिद्धउ,  
 द—वणु पर्णिदिय चउकसाय गुणगणिहि समिद्धउ ।  
 सू—रिंदु पणयप्पणजणसहित वंछित सुहियण निरु रनहु,  
 रि—उमंतरंगमय अवहरणु पयपठमक्खरिगुरु सरहु ॥ १ ॥ इति

जिन प्रबोध सूरि गुरुराज के चरण कमल में उत्तम भ्रमर समान बलबाले, नवविध जीवदयाके करने वाले, मदन रूप गजका भंजन करनेके लिये सिंह सदृश महा बलबान, चन्द्र समान उज्ज्वल गुणोंसे विमल, कीर्तिसे दशों दिशाओं में प्रसिद्ध, पांच इन्द्रियोंका व चार कषायों का दमन करने वाले, गुणगणसे समृद्ध, सूर्य-चन्द्रसम प्रताप व सौम्यबान, प्रणतात्म (नम्रतासे शिष्यादि) जनोंसे सहित, सुखि (मित्र) जनोंसे वांछित, मदमानादि अन्तरंग शत्रुओंको हटाने वाले, और इस षट्पदी वृत्तके प्रत्येक चरणके प्रथमाक्षर से जिनका नाम प्रगट होता है, उन गुरुदेव जिनचन्द्र सूरिजी को हे मनुष्यों ! निश्चित भावसे स्मरण करो ॥१॥ इति

॥ इति जुगप्रधानचतुष्पदिका समाप्ति ॥

